अथ विंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**द्विपदाविराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति का केन्द्र

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः॥१॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों में 'अमृत, सोम व इन्दु' बनने का उल्लेख था। उससे पहले ९४वें मन्त्र के अन्तिम शब्द 'अप्सु राजा' थे, प्रजाओं में यह राजा बनता है। इसी राजा का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं कि **क्षत्रस्य**=क्षतों से, घावों से त्राण करनेवाली शक्ति का तू **योनि असिः**=उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् तू अपने में उस शक्ति को उत्पन्न करता है जो शक्ति प्रजा को हानि से बचाती है। २. **क्षत्रस्य**=सम्पूर्ण बल का **नाभिः असि**=तू अपने में बन्धन करनेवाला है (नह बन्धने)। तू अपने में शक्ति का बन्धन करते हुए शक्ति का केन्द्र बनता है। ३. शक्ति का केन्द्र बनने के कारण ही **त्वा**=तुझे **मा हिंसीत्**=कोई भी रोग हिंसित करनेवाला न हो। यह वीर्य का संयम तुझे सब रोगों से बचानेवाला हो। ४. तू **मा**=मुझे **मा हिंसीः** =नष्ट मत कर। प्रभु मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' से कहते हैं कि तू मेरा भी विस्मरण न होने दे, अर्थात् प्रजापति को चाहिए कि वह 'प्रभु का ध्यान' अवश्य करे ताकि उसे शक्ति व ऐश्वर्य आदि के कारण अभिमान न हो जाए और न ही वह विषय-प्रवण बन जाए। यह अपनी रक्षा करनेवाला व्यक्ति प्रजा की ठीक प्रकार से रक्षा कर पाता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' बनता है।

भावार्थ—हम बल के उत्पत्ति-स्थान व बल का केन्द्र बनने का प्रयत्न करें। यह बल का केन्द्र बनना हमें रोगों में फँसने से बचाए। इसी उद्देश्य से हम प्रभु का सदा स्मरण करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

धृत-व्रत

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि॥२॥

१. गतमन्त्र का 'क्षत्र का केन्द्र' बननेवाला व्यक्ति **निषसाद**=निश्चय से व नम्रता के साथ सिंहासन पर बैठता है। २. **धृतव्रतः**=यह व्रत का धारण करता है। 'प्रजारक्षण' ही इसका मुख्य व्रत होता है। प्रजारक्षण के लिए यह बाह्य शत्रुओं से बदला लेता है और अन्तःशत्रुओं को उचित दण्ड द्वारा सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। ३. **वरुणः**=(क) यह प्रजाओं के द्वारा चुना जाता है। प्रजा ने रक्षण के लिए ही इसे चुना है, (ख) यह अपने को अपने कार्य में समर्थ होने के लिए श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करता है। **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'**, (ग) यह प्रजाओं में द्वेषादि की वृत्तियों के निवारण का प्रयत्न करता है। **'वारयति इति वरुणः'**। ४. इसी उद्देश्य से यह **आ**=समन्तात् चारों ओर **पस्त्यासु**=प्रजाओं

में विचरण करता है। प्रजाओं में सदा भ्रमण करनेवाला राजा ही प्रजा का ठीक से रक्षण कर पाता है। ५. यह प्रजाओं में भ्रमण करनेवाला राजा ही **साम्राज्याय**=सम्यक् शासन के लिए होता है। उत्तमता से शासन के लिए राज्य में सर्वत्र भ्रमण करके स्वयं सब-कुछ देखना आवश्यक है। ६. यह राजा **सुक्रतुः**=उत्तम कर्म व प्रज्ञावाला होता है। ७. इस राजा को आदेश देते हैं कि **मृत्योः पाहि** =तू प्रजाओं को मृत्यु से बचा। सफाई के उत्तम प्रबन्ध से तथा खान-पान की वस्तुओं की ठीक व्यवस्था से तू रोगों को न फैलने दे। ८. केवल रोगों से ही नहीं **विद्योत् पाहि**=(विद्युत्पाताद्रक्ष) विद्युत्पात आदि आधिदैविक आपत्तियों से भी तू राष्ट्र की रक्षा करनेवाला हो। वस्तुतः यदि वैयक्तिक पापों से आध्यात्मिक कष्ट होते हैं तो सामाजिक पापों से आधिभौतिक कष्ट आया करते हैं और राजा के अपराध अथवा राष्ट्रीय अपराध आधिदैविक आपत्तियों के कारण बनते हैं, अतः राजा ने राष्ट्र में उत्तम व्यवस्था के द्वारा राष्ट्र की आधिदैविक आपत्तियों से रक्षा करनी है।

भावार्थ—प्रजारक्षण के व्रत को लेकर राजा गद्दी पर बैठे। वह प्रज्ञापूर्वक कर्म करनेवाला हो। राष्ट्र को रोगों से होनेवाली मृत्यु से बचाए तथा विद्युत्पतन आदि आधिदैविक आपत्तियों से भी बचाए।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

अभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन
वीर्यायान्नाद्यायाभि षिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि ॥३॥

१. **सवितुः**=सबके उत्पादक व प्रेरक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=अनुज्ञा में **त्वा अभिषिञ्चामि**=तेरा अभिषेक करता हूँ, अर्थात् तूने वेद में दिये गये प्रभु के आदेश के अनुसार शासन करना है। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न के हेतु से मैं तेरा अभिषेक करता हूँ, अर्थात् तू अपने प्रयत्न से कमाकर खानेवाला है। तेरी यह विशेषता भी तुझे इस शासनाधिकार के योग्य बनाती है। तू कोश को प्रजा के लिए धेनु='दूध पिलानेवाली' समझता है तो अपने लिए उस कोश को तू **'वशा'**=बन्ध्या गौ के समान समझता है। तू किसी प्रकार के विषयभोगों के लिए उस कोश का विनियोग नहीं करता। यह बात भी तुझे अभिषेक के योग्य बनाती है। ३. **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से भी मैं तेरा अभिषेक करता हूँ, क्योंकि तू किसी भी वस्तु का उतना ही ग्रहण करता है जितना पोषण के लिए पर्याप्त हो। ४. **अभिषिञ्चामि** =मैं तेरा अभिषेक इसलिए करता हूँ कि **अश्विनोः**=प्राणापान की **भैषज्येन**=चिकित्सा के द्वारा **तेजसे**=तेरे शरीर में नीरोगता के कारण तेजस्विता का प्रादुर्भाव हुआ है तथा **ब्रह्मवर्चसाय**=तेरे स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क के कारण ज्ञानाध्ययन की सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ है। तू शरीर से तेजस्वी है तो मस्तिष्क से ब्रह्मवर्चस्वी बना है। ५. **अभिषिञ्चामि**=मैं तेरा अभिषेक करता हूँ चूँकि **सरस्वत्यै भैषज्येन**=सरस्वती—विद्याधिदेवता' के चिकित्सन के द्वारा **वीर्याय**=तू शक्तिसम्पन्न बना है तथा **अन्नाद्याय**=तुझमें अन्न के खाने की शक्ति ठीक बनी है। तू मन्दाग्नि नहीं हो गया है। ज्ञान को विलासवृत्ति नष्ट करती है और इसके विनाश से इसकी शक्ति ठीक बनी रहती है। आहार-विहार के ठीक होने से यह मन्दाग्नि नहीं हो जाता। मन्दाग्नि पुरुष कभी

भी शासन के लिए उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह पग-पग पर खिझने की वृत्तिवाला होता है। ६. **अभिषिञ्चामि**=मैं तेरा इसलिए अभिषेक करता हूँ कि तू **इन्द्रस्य इन्द्रियेण**=इन्द्र की इन्द्रियों के द्वारा, अर्थात् स्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा **बलाय**= बलसम्पन्नता के लिए समर्थ हुआ है, **श्रियै**=तेरा प्रत्येक कार्य शोभासम्पन्न है तथा **यशसे**=तू अपने कार्यों के साफल्य से यशःसम्पन्न बना है। **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**=जितेन्द्रिय राजा ही तो प्रजाओं को वश में स्थापित करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—अभिषेक के योग्य राजा वह है जो—(क) परमेश्वर की अनुज्ञा में चलता है, (ख) अपने प्राणापान के प्रयत्न से अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करता है, (ग) पोषण से अधिक वस्तु का ग्रहण नहीं करता, (घ) प्राणापान के शक्तिवर्धन से तेजस्वी व ब्रह्मवर्चस्वी बना है, (ङ) ज्ञान से अपने को पवित्र करके वीर्यसम्पन्न तथा प्रज्वलित जाठराग्निवाला हुआ है, (च) इन्द्रियों को अपने अधीन रखके तू 'बल, श्री व यशः' सम्पन्न बना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सुश्लोक-सुमंगल-सत्यराजन्

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्॥४॥

१. हे राजन्! तू **कः असि**=सुखस्वरूप है, चिड़चिड़े स्वभाव का नहीं। सदा प्रसन्न रहता है **'स्मितपूर्वाभिमाषी'** है। २. **कतमः असि**=सुखस्वरूप होने से तू प्रजा के लिए भी अतिशयेन सुखकारी है। प्रजा को अधिक-से-अधिक सुखी करने का प्रयत्न करता है। ३. **कस्मै त्वा**=इस सुखस्वरूपता के लिए ही तुझे (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूँ। ४. **काय त्वा**=प्रजा के रक्षण के द्वारा प्रजा को सुखी करने के लिए मैं तुझे अभिषिक्त करता हूँ। ५. इन अपने स्वभाविक कार्यों के कारण तू **सुश्लोक**=उत्तम यशवाला हुआ है। सारी प्रजाएँ तेरे गुणों का कीर्तन करती हैं। ६. **सुमङ्गल**=तू प्रजाओं का उत्तम मङ्गल करनेवाला है और ७. **सत्यराजन्**=तू सत्य से सदा चमकनेवाला है तथा सत्य से ही शासन करनेवाला है।

भावार्थ—राजा स्वयं प्रसन्नता के स्वभाववाला हो, प्रजा को प्रसन्न करनेवाला हो। इसी कारण उसका अभिषेक किया गया है। वह उत्तम शासन के कारण यशस्वी बने, प्रजा का मङ्गल करे और सत्य से चमक उठे, सत्य से ही सबका शासन करे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रत-धारण

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणोऽअमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥५॥

१. अभिषिक्त राजा उपस्थित प्रजाजन को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि मैं प्रयत्न करूँगा कि **मे शिरः**=मेरा मस्तिष्क **श्रीः**=सदा 'श्रीसम्पन्न हो, उसमें सदा उत्तम विचारों को ही स्थान मिले। २. **मुखं यशः**=मेरा मुख यशस्वी हो, अर्थात् मेरे मुख से किसी प्रकार के अशुभ शब्दों का उच्चारण न हो। ३. **श्मश्रूणि**=(श्मनि श्रितम्) शरीर में आश्रित 'इन्द्रियाँ—मन व बुद्धि' ये सब **त्विषिः**=दीप्ति के पुञ्ज हों **च**=और **केशाः**=ज्ञान की रश्मियों से युक्त हों। ये सब अपने-अपने कार्य को करने में समर्थ होकर चमकें। ये सब

ज्ञान की किरणों से दीप्त हों। ४. **मे प्राणः**=मेरी प्राणशक्ति **राजा**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाली हो (राजृ दीप्तौ) तथा यह मेरे जीवन को बड़ा व्यवस्थित बनाए। साथ ही यह प्राणशक्ति **अमृतम्**=मुझे रोगों से मरने न दे। मुझे नीरोग बनाकर पूर्ण शतमान आयुवाला बनाए। ५. **चक्षुः**=मेरी आँख **सम्राट्**=सम्यक् प्रकाशमान हो। मानस स्वास्थ्य के कारण मेरी आँख में नैर्मल्य की चमक हो। ६. **श्रोत्रम्**=मेरा कान, वेदज्ञान को श्रवण करने के कारण, **विराट्**=विशिष्ट रूप से शोभायमान हो। आचार्य दयानन्द के शब्दों में यह विविध शास्त्र श्रवणयुक्त हो और इसीलिए यह **विराट्**=चमकनेवाला हो।

भावार्थ—राजा के व्रत हैं—(क) मैं मस्तिष्क में पवित्र विचारों को धारण करूँगा, (ख) मेरा मुख यशस्वी शब्दोंवाला हो, (ग) मेरी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब-के-सब दीप्त व ज्ञान की रश्मियोंवाले हों, (घ) प्राण मेरी दीप्ति व अमरता का कारण हो, (ङ) चक्षु सम्राट् हो और (च) कान विराट् हो—ऐसा मैं प्रयत्न करूँगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

राजा की इन्द्रियाँ

जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदाऽअङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥६॥

१. **मे जिह्वा**=(जुहोतिशब्दमन्त्रं यया द.) शब्दों का उच्चारण करनेवाली व अन्न का सेवन करनेवाली मेरी यह जिह्वा **भद्रम्**=भद्र हो। यह कल्याण व सुख का साधन बने। भद्र बनने के लिए ही यह शुभ शब्दों का उच्चारण करे व सात्त्विक अन्नों का सेवन करे। २. **वाङ् महः**=मेरी वाणी (पूज्यवेदशास्त्रबोधयुक्ता—द०) पूजनीय हो, यह उत्तम वेदज्ञान से युक्त हो। ३. **मनः**=हमारा मन **मन्युः**=अवबोधवाला हो, मननशील हो। ४. **भामः**=मेरा तेज **स्वराट्**=स्वयं चमकनेवाला हो, मुझे तेजस्विता के लिए आभूषणों व विलेपनों की आवश्यकता न हो। इन आभूषणों व विलेपनों के बिना भी मैं तेजस्वी प्रतीत होऊँ। ५. मेरी **अंगुलीः**=अंगुलियाँ (अगि गतौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाली, सदा कर्मों में स्थापित की जानेवाली ये दीधितियाँ **मोदाः** =मेरी प्रसन्नता का कारण बनें। इसी प्रकार, **अङ्गानि**=(अगि गतौ) सदा क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाले मेरे अङ्ग **प्रमोदाः**=मेरे प्रकृष्ट आनन्द का कारण बनें और ६. **सहः**=सहनशक्ति **मे मित्रम्**=मेरी मित्र हो, यह मुझे पापों से बचानेवाली हो।

भावार्थ—१. मेरी जिह्वा भद्र होगी। २. वाणी महनीय होगी। ३. मन विचारशील। ४. मेरा तेज निमित्तान्तर निरपेक्ष होगा। ५. अंगुलियाँ और अङ्ग क्रियाओं में व्याप्त रहकर आनन्द का अनुभव करेंगे। ६. सहनशक्ति मेरी मित्र होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

बाहू+हस्तौ+उरः

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥७॥

१. **बलम्**=शरीर का बल तथा **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति ही **मे बाहू**=मेरी भुजाएँ हों, अर्थात् मैं बल और इन्द्रियों को भुजा के रूप में देखूँ। २. **कर्म**=निरन्तर क्रियाशीलता और **वीर्यम्**=क्रियाशीलता से उत्पन्न वीर्य **मे हस्तौ**=मेरे हाथ हों। ३. **मम**=मेरा **आत्मा**=आत्मिक बल तथा **क्षत्रम्**=क्षतों से बचानेवाला क्षात्रबल ही **उरः**=मेरी छाती व वक्षःस्थल हो।

भावार्थ—राजा व्रत लेता है कि मैं (क) बल व इन्द्रिय-शक्ति को ही अपनी भुजाएँ समझूँगा। (ख) कर्म व कर्मजनित शक्ति को हाथ समझूँगा तथा (ग) आत्मिक बल व क्षात्रबल को ही उर:स्थनीय मानूँगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रजारूपी अङ्ग

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥८॥

१. गतमन्त्र के व्रतों के अनुसार अपने जीवन का सुन्दर परिपाक करके राष्ट्र के प्रति राष्ट्र-रक्षणयज्ञ में अपनी आहुति देता हुआ राजा कहता है कि **राष्ट्रम्**=राष्ट्र ही **मे पृष्ठी**=मेरा पृष्ठदेश—पश्चाद्भाग है। जैसे शरीर की मूल आधारभूत यह रीढ़ की हड्डी है, उसी प्रकार मैं अपने जीवन में राष्ट्र को ही रीढ़ की हड्डी समझता हूँ। उसके स्वास्थ्य पर ही मेरा स्वास्थ्य निर्भर करता है। २. **विशः**=ये प्रजाएँ **सर्वतः**=जो चारों ओर सब भागों से एकत्र हुई हैं, वे **मे**=मेरे **अङ्गानि**=अङ्गों के तुल्य हैं। **उदरम्**=वैश्यवर्ग उदर के समान है। **अंसौ**=सैनिकवर्ग मेरे कन्धों के समान है। **ग्रीवाः**=ब्राह्मण लोग गर्दन व कण्ठ के समान हैं। **श्रोणी**=रक्षकवर्ग कटिदेशों के तुल्य हैं। **ऊरू**=श्रमिकवर्ग जंघाओं के समान हैं। **अरत्नी**=शासन में भाग लेनेवाला सारा सैक्रेटेरियेट भुज=मध्यप्रदेशों के समान है तथा **जानुनी**=मन्त्रिमण्डल का अधीनस्थ कर्मचारीवर्ग घुटनों के तुल्य है। इन सब लोगों को मैं अपने अङ्गों के समान ही समझता हूँ। जिस प्रकार मुझे अपने अङ्ग प्रिय हैं, उसी प्रकार ये सारा प्रजावर्ग मुझे प्रिय है। इसकी पुष्टि में ही मैं अपनी पुष्टि समझता हूँ।

भावार्थ—प्रजा राष्ट्र-शरीर के विविध अङ्ग हैं। राष्ट्र स्वयं इस शरीर की रीढ़ की हड्डी है। राजा प्रजा को अपने शरीर के अङ्गों के समान समझता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजा में प्रतिष्ठित

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः॥९॥

१. राजा ही कहता है कि **चित्तम्**=स्मृति—प्रभु का स्मरण, अपने कर्त्तव्य का स्मरण तथा **विज्ञानम्**=कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान **मे नाभिः**=मेरा केन्द्र हो 'नह बन्धने'। इस चित्त व विज्ञान का मुझमें बन्धन हो। मैं चित्त व विज्ञान से पृथक् न होऊँ। २. **अपचितिः**=पूजा—प्रभु का पूजन तथा **भसत्**=(भस दीप्तौ) ज्ञान की दीप्ति **मे पायुः**=मेरे रक्षक हों। जैसे शरीर में पायु=गुदेन्द्रिय सब मलों का निराकरण करके शरीर की रक्षा करता है, इसी प्रकार यह प्रभु-पूजन तथा ज्ञान मेरे मलों को दूर करके मेरा रक्षण करे। ३. **आनन्दनन्दौ** =आत्म-प्राप्ति का आनन्द अथवा मनःप्रसाद तथा **नन्द**=समृद्धि (नन्दति becomes prosperous) ये दोनों **मे**=मेरे **आण्डौ**=(अमति=to serve) मेरी सेवा करनेवाले हों, अर्थात् मुझे पारलौकिक कल्याण व ऐहलौकिक समृद्धि प्राप्त हो। ४. **भगः**=परमात्म-प्राप्ति का ऐश्वर्य व **सौभाग्यम्**=प्राकृतिक सम्पत्ति **मे**=मेरे **पसः**=(स्पृशतिकर्मणः) स्पर्श करनेवाले हों, अर्थात् मैं सदा इनके सम्पर्क में रहूँ। ५. **जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्**=मैं अपनी जाँघों से तथा पाँवों से **धर्मः**

अस्मि=सबका धारण करनेवाला होऊँ। **'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत'**=जांघें वैश्य हैं, पाँव 'शूद्र'। वैश्य धन का प्रतीक है तो शूद्र 'श्रम' का। मैं अपने धन व श्रम से सबका धारण करनेवाला बनूँ। ६. इस प्रकार **राजा**=दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला बनकर मैं **विशि**=प्रजा में **प्रतिष्ठितः**=प्रतिष्ठित होऊँ। प्रजा के जीवन को भी दीप्त व व्यवस्थित बनानेवाला होऊँ।

भावार्थ—राजा अपने जीवन में 'चित्त-विज्ञान-अचिति (पूजा), भसत् (प्रकाश), आनन्द-नन्द-भग तथा सौभाग्य' का समन्वय करके अपने धन व श्रम से प्रजा का धारक बने और प्रजा के जीवन को व्यवस्थित व दीप्त बनाए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वश्यविश्व

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु।
प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति
द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥१०॥

१. **प्रतिक्षत्रे**=प्रत्येक बल में **प्रतितिष्ठामि**=मैं प्रतिष्ठित होऊँ। बल व राष्ट्र में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मैं बल व राष्ट्र को अपने वश में करनेवाला बनूँ। २. **अश्वेषु प्रतितिष्ठामि**=मैं अश्वों में प्रतिष्ठित होऊँ तथा **गोषु प्रतितिष्ठामि**=गौवों में प्रतिष्ठित होऊँ, अर्थात् मैं गौवों व घोड़ों को खूब प्राप्त करूँ। मेरे राष्ट्र में गौवों व घोड़ों की कमी न हो। ३. **प्रत्यङ्गेषु**=मैं हाथ-पाँव आदि सब अङ्गों में **प्रतितिष्ठामि**=प्रतिष्ठित होऊँ तथा **आत्मन्**=चित्त में प्रतिष्ठित होऊँ। अङ्गों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मेरे सब अङ्ग अविकल हों तथा चित्त आधियों से शून्य हो। ४. **प्रतिप्राणेषु**=प्रत्येक प्राण में **प्रतितिष्ठामि**=मैं प्रतिष्ठित होऊँ तथा **पुष्टे**=समृद्धि में मैं प्रतिष्ठित होऊँ। प्राणों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मैं नीरोग बनूँ। पुष्टों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय है कि मैं खूब धनसम्पन्न होऊँ। ५. **द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि**=मस्तिष्क व शरीर दोनों में प्रतिष्ठित होऊँ (द्यावा=मस्तिष्क, पृथिवी शरीरम्) एवं शरीर व मन के विकास के परिणामरूप मेरी द्यावापृथिवी में उत्कृष्ट कीर्ति हो। मैं शरीर व मस्तिष्क दोनों में लब्धकीर्ति बनूँ। ६. शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर **यज्ञे प्रतितिष्ठामि**=मैं यज्ञों में प्रतिष्ठित बनूँ। मेरी यज्ञों में रुचि हो। प्रभु ने इसी से मुझे फूलने-फलने का निर्देश दिया है।

भावार्थ—मैं 'क्षत्र-राष्ट्र-अश्व-गौ-प्रत्यङ्ग-चित्त-प्राण-पुष्ट, द्यावापृथिवी व यज्ञ में प्रतिष्ठित होऊँ। मैं 'वश्यविश्व, पशुमान्, आधिव्यधिरहित-श्रीमान् व यज्ञकर्ता' बनूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**उपदेशकाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

३३ देव

त्रया देवाऽएकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा ॥११॥

१. **त्रयाः**=(त्रयोऽवयवा येषां ते) तीन प्रकार के **एकादश**=ग्यारह-ग्यारह **देवाः**=देव **त्रयस्त्रिंशाः**=कुल मिलाकर तैतीस देव (जो ११ पृथिवीलोक में हैं, ११ अन्तरिक्षलोक में हैं तथा ११ द्युलोक में—ये सब) **सुराधसः**=(शोभनं राधो येषाम्) उत्तम धनोंवाले हैं। उस-उस धनवाले हैं जोकि (राध्नोति अनेन) हमें सब प्रकार की उन्नतियों में सफल बनाते हैं।

२. ये **बृहस्पतिपुरोहिताः**=(बृहस्पतिः सूर्यः पुरः पूर्वः हितो धृतो येषु–द०) सूर्यरूपी मुखियावाले **देवाः**=देव **देवस्य सवितुः**=उस दिव्य गुणोंवाले उत्पादक प्रभु की **सवे**=अनुज्ञा में वर्त्तमान हुए-हुए **देवैः**=अपनी दीप्तियों से व अपने दिव्य गुणों से **मा अवन्तु**=मेरी रक्षा करें। ३. संसार में कुल तैतीस देव हैं–ये 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में स्थिति के कारण तीन प्रकार हैं। एक-एक देव में उत्तम धन निहित है। इन तैतीस देवों में सूर्य मुख्य है। वस्तुतः सूर्य केन्द्र में है और सब देव सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और इस प्रकार एक सौरलोक बनता है। प्रभु की अनुज्ञा में वर्त्तमान ये सब देव अपने दिव्य गुणों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ–तैतीस देव मेरे लिए सुराधस् हों, ये मेरी रक्षा करें।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**विश्वेदेवाः**। छन्दः–**निचृत्प्रकृत्तिः**। स्वरः–**धैवतः**॥

कामसमृद्धि

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूꣳषि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्काराऽ आहुतिभिराहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहा॥१२॥

१. गतमन्त्र के **प्रथमाः**=प्रथम स्थान में स्थित पृथिवीस्थ ग्यारह देव **द्वितीयैः**=द्वितीय स्थान में स्थित अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देवों के साथ **मे**=मेरे **कामान्**=इष्टों को **समर्धयन्तु**=समृद्ध करें। इन देवों की कृपा से मेरे सब मनोरथ पूर्ण हों। मुझे पृथिवीस्थ ग्यारह देवों की कृपा से स्वास्थ्य प्राप्त हो तो अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देवों की कृपा से मैं निर्मल हृदयवाला बनूँ। २. **द्वितीयाः**=द्वितीय स्थान में स्थित अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देव **तृतीयैः**=तृतीय स्थान में स्थित द्युलोकस्थ ग्यारह देवों के साथ **मे कामान् समर्धयन्तु**=मेरे इष्टों को समृद्ध करें। मैं हृदय-नैर्मल्य के साथ ज्ञानदीप्ति को भी प्राप्त करूँ। ३. **तृतीयाः**=तृतीय स्थान में स्थित द्युलोकस्थ ग्यारह देव **सत्येन**=उस सत्यस्वरूप परमात्मा के साथ मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। मैं ज्ञानी बनूँ तथा सत्य को अपनानेवाला होऊँ। ४. **सत्यम्**=वह सत्यस्वरूप प्रभु **यज्ञेन**=यज्ञ के साथ मेरे इष्टों को समृद्ध करे। मैं सत्य बोलूँ–यज्ञशील बनूँ। ५. **यज्ञः**=यज्ञ **यजुर्भिः**=देवपूजा, संगतिकरण व दान के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करे। मैं यज्ञशील बनूँ, देवों का आदर करूँ, बराबरवालों से प्रेम से मिलूँ तथा आवश्यकतावालों को दान अवश्य दूँ। ६. **यजुर्भिः**=ये पूजा, प्रेम व दान **सामभिः**=उपासनाओं के साथ व शान्त जीवन के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करें। मैं प्रभु का उपासक बनूँ और शान्त जीवनवाला होऊँ। ७. **सामानि**=ये उपासनाएँ **ऋग्भिः**=विज्ञानों व सूक्तों (मधुर भाषणों) के साथ मुझे समृद्ध काम करें। ८. **ऋचः**=ये विज्ञान **पुरोनुवाक्याभिः**=(पुरा अनु वच्) पूर्वाश्रम में आचार्य के उच्चारण के पीछे उच्चारण के द्वारा मेरे इष्टों को पूर्ण करें। पुरः का अर्थ 'सामने' भी होता है तब अर्थ होगा आचार्य के सामने बैठकर आचार्य से श्रावित ज्ञान को ठीक उसी के अनुसार उच्चारित करना। यह उच्चारण ही मुझे ज्ञानी बनाएगा। ९. **पुरःअनुवाक्याः**=प्रथमाश्रम में आचार्य के सामने बैठकर, आचार्य से उच्चरित ज्ञान को उच्चारण करने की क्रियाएँ **याज्याभिः**=(यज्=सङ्गतिकरण) उस ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करने की क्रियाओं के साथ मुझे सफल मनोरथ करें। मैं उस ज्ञान को अपना अङ्ग बना पाऊँ। १०. **याज्याः**=यह ज्ञान को अपनाने की क्रियाएँ **वषट्कारैः**=(उत्तमकर्मभिः–द०) उत्तम कर्मों के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करें। ज्ञान का परिणाम मेरे जीवन में यह हो कि मैं सदा यज्ञादि उत्तम

कर्मोंवाला बनूँ। ११. **वषट्काराः**=ये उत्तम यज्ञादि कर्म **आहुतिभिः**=त्यागवृत्तियों के साथ मेरे कामों को समृद्ध करें। मेरा प्रत्येक कर्म त्याग की भावना से युक्त हो। १२. और अन्त में **आहुतयः**=यह त्याग, यज्ञों को करके यज्ञशेष खाना, **मे कामान् समर्धयन्तु**=मेरे इष्टों को पूर्ण करे। ये आहुतियाँ मेरे लिए इष्टकामधुक् हों। १३. **भूः**=इस प्रकार मैं सदा स्वस्थ बना रहूँ (भवति) नष्ट न हो जाऊँ और **स्वाहा**=उस **स्व**=आत्मा–प्रभु के प्रति अपना **हा**=अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ–मेरा जीवन देवों की कृपा से समृद्ध-काम हो। मैं स्वस्थ बनूँ, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूँ।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**अध्यापकोपदेशकौ**। छन्दः–**अनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**॥

प्रयत्न व नम्रता (प्रयतिरानतिः)

लोमानि प्रयतिर्मम त्वङ् मऽआनतिरागतिः।
मांसं मऽउपनतिर्वस्वस्थि मज्जा मऽआनतिः॥१३॥

१. **मम लोमानि प्रयतिः**=मेरे बाल प्रकृष्ट यत्नवाले हैं। (मम लोमस्वपि प्रयत्नः) मेरे एक-एक लोम में प्रयत्न की भावना है। २. **मे त्वक्**=मेरी त्वचा **आनतिः**=नम्रता है तथा **आगतिः**=क्रियाशीलता है। **नतिः**=नम्रता **आनतिः**=सब दृष्टिकोणों से नम्रता। **आ-गतिः**= सदा क्रियाशीलता। 'त्वचा'-जैसे संवरण करती हुई शरीर को सुरक्षित रखती है, इसी प्रकार नम्रता और क्रियाशीलता मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाती हैं, एवं ये मेरी त्वचा हैं। ३. **उपनतिः**=विद्वानों के समीप नम्रता से उपस्थान ही **मे**=मेरा **मांसम्**=मांस है, मुझे बलवान् बनानेवाला है (बलवान्=मांसलः) ४. **वसु**=धन, राष्ट्रकोश ही, **अस्थि**=राष्ट्र-शरीर के ढाँचे को ठीक रखनेवाली हड्डी है। धन के बिना राष्ट्र-शरीर खड़ा नहीं रह सकता। ५. **आनतिः**=शत्रुओं को झुकाना **मे**=मेरी **मज्जा**=मज्जा (Marrow) है। शत्रुओं को नतमस्तक करना मेरे जीवन का अङ्ग बन गया है, यह मेरा स्वभाव हो गया है।

भावार्थ–मेरे जीवन में प्रयत्न (प्रयति), नम्रता (आनति), क्रियाशीलता (आगति) आचार्यों के समीप नम्रता से उपस्थान (उपनति)–ये सब बातें हैं। परिणामतः मैं वसुओं को प्राप्त कर पाया हूँ।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**अग्निः**। छन्दः–**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**॥

अग्नि द्वारा पापमोचन

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः॥१४॥

१. **देवाः**=मन्त्र ११ में वर्णित तैतीस देवो! **देवासः**=ज्ञानी व समझदार होते हुए **वयम्**=हम **यत्**=जो **देवहेडनम्**=देवों का निरादर व अपराध **चकृमा**=करते हैं, कर बैठते हैं। २. **विश्वात् तस्मात् एनसः**=उस सब अपराध से **अग्निः**=इन पृथिवीस्थ देवों का अग्रणी अग्नि **मा**=मुझे **मुञ्चतु**=मुक्त करे और इस पापमोचन के द्वारा **अंहसः**=उस पाप से होनेवाली पीड़ा से भी **मुञ्चतु**=मुझे मुक्त करे। ३. पृथिवीस्थ देवों के विषय में अपराध यही है कि हम उन देवों का ठीक प्रयोग व सेवन नहीं करते। मिट्टी से बचने का यत्न करते हैं। यह मिट्टी तो पृथिवी देवता का अंश है। उसे शरीर पर रमाने से शरीर के विष दूर होते हैं, परन्तु हम उससे घबराते हैं, घृणा भी करते हैं। इसी प्रकार 'जठरेण हुताशनम्'=पेट

से अग्नि का सेवन मन्दाग्नि को दूर करता है। हम हाथों को तापते रहते हैं और अग्नि का लाभ नहीं उठा पाते। ४. शरीरस्थ सब देवांशों का ठीक प्रयोग होने से मनुष्य पापों व कष्टों से बचा रहता है।

भावार्थ—मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो, यह भावना मुझे मार्गभ्रष्ट होने से बचाए और मैं पाप व कष्टों से बचा रहूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वायु द्वारा पापमोचन (दिवा+नक्तम्)

यदि॒ दिवा॒ यदि॒ नक्त॒मेना॑ꣳसि चकृ॒मा व॒यम्।
वा॒युर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑सः॥१५॥

१. **यदि**=यदि **दिवा**=दिन में और **यदि**=अथवा **नक्तम्**=रात्रि में **वयम्**=हम **एनांसि** =पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं तो २. **वायुः**=अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस **विश्वात्**=सम्पूर्ण **एनसः**=पाप से **मुञ्चतु**=छुड़ाए और इस प्रकार उन पापों से होनेवाले **अंहसः**=कष्टों से भी **मुञ्चतु**=मुक्त करे। ३. दिन के विषय में सबसे बड़ा अपराध यह है कि दिन में हम अकर्मण्य हो जाएँ। 'अहन्' की भावना है—न-हन=न नष्ट करना। 'दिन के एक-एक क्षण को मूल्यवान् समझना और उन्हें नष्ट न होने देना' यही दिन का सदुपयोग है। निरन्तर उत्तम कर्मों में लगे रहकर हम दिन के विषय में सम्भव अपराधों से बचते हैं और रात्रि में गाढ़ी निद्रा में जाकर रात्रि-सम्बन्धी पापों से भी बच जाते हैं। 'रात्रि'=रमयित्री है, आराम के लिए है। 'उसमें एक-एक बजे तक जागते रहना', रात्रि के विषय में अपराध है। ४. उस अपराध से बचेंगे तो वायु हमें उन अपराधों से होनेवाले कष्टों से मुक्त करेगा। 'वायु' शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से बना है। दिन में गति व रात्रि में गन्धन=मल का अल्पीभाव—ये भावनाएँ वायु शब्द में निहित हैं। 'दिनभर मैं गतिशील बना रहूँ तथा रात्रि में प्रकृति को दिनभर की टूट-फूट व मल को समाप्त करने का अवसर दूँ', यही वायु की प्रेरणा है। ऐसा होने पर मैं दिन-रात के विषय में होनेवाले पापों से, कष्टों से बचा रहूँगा।

भावार्थ—हम दिन में उत्तम कर्मों में लगे रहें तथा रात्रि में गाढ़ निद्रा के आनन्द का अनुभव करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सूर्य द्वारा पापमोचन (जागरित+स्वप्न)

यदि॒ जाग्र॒द्यदि॒ स्वप॒न्ऽएना॑ꣳसि चकृ॒मा व॒यम्।
सूर्यो॑ मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑सः॥१६॥

१. **यदि जाग्रत्**=यदि जागते हुए अथवा **यदि स्वप्ने**=यदि सोते हुए **वयम्**=हम **एनांसि**=पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं तो २. **सूर्यः**=सूर्य **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस **विश्वात्**=सब **एनसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करे और उन पापों से होनेवाले **अंहसः**=कष्ट से भी मुक्त करे। ३. जाग्रत् अवस्था में प्रलोभनवश हम अपने व्यवहारों में शतशः गलतियाँ कर बैठते हैं। हम समझते हैं कि यह वस्तु न खानी चाहिए, परन्तु स्वादवश खा बैठते हैं। इसी प्रकार हम समझते हैं कि हमें यह शब्द नहीं बोलना चाहिए, परन्तु बोल बैठते हैं। यदि किसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में हम अपने को वश में कर भी लें तो सो जाने पर हम उन्हीं

वस्तुओं का स्वाद लेने लगते हैं और अपशब्दों को बोलने लगते हैं। अतः ४. सूर्य हमें इन जागते व सोते समय होनेवाले पापों से बचाए और उनके परिणामभूत कष्टों से भी बचाए। 'सूर्य' शब्द की भावना है 'सरति'=चलता है। हमें भी दिनभर चलना है, थक नहीं जाना तभी तो हम इस अश्रान्त भाव से चलनेवाले सूर्य की भाँति चमकेंगे। निरन्तर क्रिया में लगे रहनेवाला व्यक्ति जाग्रत् व स्वप्न के पापों से बचा रहता है। जाग्रत् में उसे अवकाश नहीं होता, स्वप्न में उसे मोक्षरूपता-सी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार यह सूर्य='सरण' की, निरन्तर चलने की प्रेरणा देकर हमें पापों से बचाता है।

भावार्थ—सूर्य से सरण व गति की प्रेरणा लेकर मैं अपने जाग्रत् व स्वप्न—दोनों को निष्पाप व कल्याणकर बनाऊँ।

सूचना—मन्त्र संख्या १४, १५ व १६ में 'अग्नि, वायु व सूर्य' से पापमोचन की प्रार्थना की गई है। 'अग्नि' शब्द 'अगि गतौ' से बनता है, तो वायु 'वा गतौ' से और सूर्य 'सृ गतौ' से बना है। एवं, तीनों में गति की भावना है। वस्तुतः जीवन का सार गति है, गति ही जीवन है। आत्मा शब्द का अर्थ भी 'अत सातत्यगमने' से बनकर 'निरन्तर गति' ही है। यह गति ही हमें पाप व अपवित्रता से बचाती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अव-यजन (दूरीकरण)

यद् ग्रामे॒ यदर॑ण्ये॒ यत्स॒भाया॑ं॒ यदि॑न्द्रि॒ये।
यच्छू॒द्रे यद॒र्ये॒ यदे॑नश्चकृ॒मा व॒यं यदे॑कस्या॒धि धर्म॑णि॒ तस्या॑व॒यज॑नमसि॥१७॥

१. **ग्रामे**=ग्राम के विषय में **यत्**=जो **एनः**=पाप **वयम्**=हम **चकृम**=कर बैठते हैं **तस्य**=उसके आप **अवयजनम् असि**=नाशक हैं (अवपूर्वो यजतिर्नाशने—उ०)। ग्राम-विषयक अपराध 'नागरिक' नियमों का न पालना है। 'सड़क पर कूड़ा फेंक देना, मार्ग पर ठीक स्थान में न चलना, लापरवाही से जलती तीली आदि को इधर-उधर डाल देना, बड़ी ऊँची तान पर रेडियो बजाना' आदि सब नागरिक अपराध हैं। २. **अरण्ये**=अरण्य—वन के विषय में हम **यत्**=जो अपराध करते हैं, आप उस पाप से हमें दूर करें। वनविषयक मुख्य अपराध लकड़ी को काटना, परन्तु नये वृक्ष व वनस्पतियों को न लगाना है। हम एक वृक्ष को काटें तो दो लगाने का ध्यान करें, अन्यथा वनों का उच्छेद होकर वृष्टि का भी अवग्रह (प्रतिबन्ध=रोक) हो जाएगा और लकड़ी भी अन्ततः समाप्त हो जाएगी। ३. **सभायाम्**=सभा के विषय में **यत्**=हम जो पाप करते हैं, उसे आप हमसे दूरे करनेवाले हैं। 'सभा' में शान्तभाव से न बैठना, बातें करते रहना, ध्यानभंग करनेवाली या अप्रासंगिक बात करना' ये सब सभा-विषयक पाप हैं, इनसे हम बचें। ४. **इन्द्रिये**=इन्द्रियों के विषय में **यत्**=जो पाप हम करते हैं, उसको आप हमसे दूर करनेवाले हैं। इन्द्रियों के विषय में अपराध यही है कि हम उनका दुरुपयोग करते हैं या उपयोग ही नहीं करते, अतः हम ज्ञानेन्द्रियों को सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खें और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत रक्खें। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के सहायक भूत ५. **शूद्रे**=समाज में श्रम के द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले शूद्रों के विषय में **यत्**=हम उनके लिए जो अपशब्द आदि का प्रयोग करते हुए, उन्हें मनुष्य न समझते हुए अपराध करते हैं, उसे हमसे दूर कीजिए। ६. **अर्ये**=वैश्यों के विषय में **यत्**=हम जो पाप करते हैं, उनसे उधार वस्तु लेकर समय पर रुपया नहीं देते अथवा देने से ही बचने का प्रयत्न करते हैं, उन पापों से हमें बचाइए। ७. घर में पति-पत्नी

दो मुख्य पात्र हैं। दोनों ने मिलकर घर को बनाना है। एक ने अन्दर का काम सँभाला है, दूसरे ने बाहर का। इस प्रकार सम्मिलित उत्तरदायित्व होने पर भी दोनों के अलग-अलग विशिष्ट कर्तव्य हैं। ये ही उनके 'अधिधर्म' हैं। 'एक-दूसरे के अधिधर्मों के विषय में आलोचना करते रहना' यह अधिधर्म विषयक अपराध है, अतः **यत्**=जो **एकस्य**=एक के **अधिधर्मणि**=अधिधर्म के विषय में हम अपराध करते हैं **तस्य**=उसके **अवयजनम् असि**=आप नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम ग्राम और सभा आदि के विषय में हो जानेवाले अपराधों से बचने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

'गोदुग्ध' व 'पाप-नाश'

यदापोऽअघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च।
अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि॥१८॥

१. हे **वरुण**=हमें सब पापों से बचानेवाले प्रभो! आपके आदेश के अनुसार **यत्**=जो **आपः**=सब भोगों को प्राप्त करानेवाली हैं, अतएव प्राप्त करने योग्य हैं, **अघ्न्याः इति**=न हिंसा करनेवालों में उत्तम हैं **वरुण इति**=जो वरण के योग्य हैं, परन्तु आपके आदेश को न सुनकर हम जो इन्हें **शपामहे**=(शपतिर्वधकर्मा) मारते हैं **ततः**=उस पास से **नः**=हमें **मुञ्च**=छुड़ाइए। हम सब भोगों को प्राप्त करानेवाली, अमृतमय दुग्ध से हमें हिंसित न होने देनेवाली, वरणीय गौवों को न मारें। इनके द्वारा दुग्ध-घृतादि पदार्थों को प्राप्त करके हम विविध यज्ञों को सिद्ध करनेवाले बनें। २. **अवभृथ**=हे प्रभो! आप यज्ञरूप (Sacrifice) हैं। आपने जीव के हित के लिए (आत्मदा) अपने को भी दे डाला है। **निचुम्पुणः**=नितरां शान्त गति से आप चल रहे हैं। 'चुप मन्दायां गतौ' शान्तभाव से आप ब्रह्माण्ड-निर्माण आदि क्रियाओं में लगे हुए हैं। इन सब क्रियाओं में कहीं व्यग्रता नहीं, कहीं शोर नहीं। **निचेरुः असि**=निश्चय से आप चरणशील हैं **(स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च)** आपकी क्रिया स्वाभाविक है। **निचुम्पुणः**=बिना शोर किये शान्तभाव से आप इन सब क्रियाओं को करते चल रहे हैं। ३. आप हमारे जीवनों को भी इसी प्रकार 'शान्त व क्रियामय' बनाइए और **देवैः**=दिव्य गुणों के उत्पादन के द्वारा **देवकृतं एनः**=देवताओं के विषय में हमसे हो जानेवाले अपराधों को **अव अयक्षि**=हमसे दूर कीजिए तथा **मर्त्यैः**=हम मर्त्यों से (स्खलनशीलो हि मनुष्यः=to err is human) स्खलनशील स्वभाव के कारण **मर्त्यकृतम्**=मनुष्यों के विषय में किये अपराधों को **अव अयक्षि**=हमसे दूर कीजिए। बड़ों के प्रति निरादर, बराबरवालों से कलह व छोटों के प्रति कठोरता ही प्रायः मर्त्यकृत पाप का स्वरूप है। आप हमें इनसे बचाइए। ४. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **पुरुराव्णः**=बहुतों को रुलानेवाली **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=हमें बचाइए।

भावार्थ—हम गोहत्या करके गोमांस भक्षण करने के स्थान में गोरक्षण द्वारा गोदुग्धरूप अमृत का सेवन करें, जिससे हमारे जीवन शान्त, यज्ञात्मक, क्रियामय हों। हम देवों के विषय में पाप न करें, न ही मनुष्यों के विषय में।

सूचना—देवकृतं एनः=देवताओं के विषय में पाप यही है कि हम शरीरस्थ देवांशों के

स्वास्थ्य का ध्यान नहीं करते। सूर्यादि देव चक्षु आदि के रूप में हमारे शरीर में रह रहे हैं। हमें उन्हें पूर्ण स्वस्थ रखना चाहिए, परन्तु गोमांसादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के द्वारा हम उनकी हिंसा के कारण बनते हैं। देव हविर्भुक् हैं, मांसभुक् नहीं। हमें चाहिए कि हम गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों के सेवन से इस देवकृत पाप को अपने से दूर करें। हममें दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः। सुमित्रिया नऽआपऽ ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१९॥

१. गतमन्त्र में गोमांस का निषेध करके गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों के सेवन का संकेत था। उस सात्त्विक आहार के परिणामस्वरूप **समुद्रे**=(स+मुद्) सदा आनन्दमय रसरूप (रसो वै सः—तैत्तिरीय०) उस प्रभु में ही **ते**=तेरा **हृदयम्**=हृदय हो। संसार के सब कार्यों को करते हुए भी तू प्रभु का विस्मरण करनेवाला न हो। २. **अप्सु अन्तः**=तेरा एक-एक क्षण कर्मों में निहित हो। एक क्षण के लिए भी तू अकर्मण्य न बने। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** इस आदेश के अनुसार कर्मों को करते हुए ही तू जीने का प्रयत्न कर। ३. **त्वा**=तुझमें **ओषधीः उत आपः**=ओषधियों व जलों का ही **संविशन्तु**=प्रवेश हो। तू मांस को शरीर में प्रविष्ट मत करने लगना। ४. यह सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे लिए **आपः ओषधयः**=जल व ओषधियाँ **सुमित्रियाः**=उत्तम स्नेह करनेवाली (मिद् स्नेहने) तथा रोगों से बचानेवाली (प्रमीतेः त्रायते) **सन्तु**=हों। ५. ये ओषधियाँ व जल **तस्मै**=उनके लिए ही **दुर्मित्रियाः**=दुर्मित्रिय हों, अस्नेहकर व रोगों से न बचानेवाली हों **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब भी **द्विष्मः**=नहीं चाहते हैं। स्नेह के अभाव व द्वेष के धारण करनेवाले व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ हितकर नहीं होतीं। इस व्यक्ति के अन्दर कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं और ये भोजन उसका कल्याण नहीं कर पाते।

भावार्थ—सात्त्विक वानस्पतिक भोजन हमें नीरोग बनाए। केवल शरीर में ही नहीं, मन में भी। प्रभु का हम स्मरण करें, सदा कर्मनिष्ठ हों। किसी से द्वेष न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कर्मों के द्वारा पवित्रता

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः॥२०॥

१. **इव**=जैसे **द्रुपदात्**=पादुका=खड़ाओं से **मुमुचानः**=(मुच्यमानः) छूटता हुआ पुरुष उससे उत्पन्न दोषों से मुक्त हो जाता है। २. **इव**=जैसे **स्विन्नः**=स्वेद व पसीनेवाला पुरुष **स्नातः**=स्नान किया हुआ **मलात्**=मल से पृथक् हो जाता है। ३. **इव**=जैसे **आज्यम्**=घृत **पवित्रेण**=छलनी से छाना हुआ **पूतम्**=पवित्र हो जाता है, ४. उसी प्रकार **आपः**=कर्म **मा**=मुझे **एनसः**=पाप से **शुन्धन्तु**=शुद्ध कर दें। मनुष्य कर्मों में लगा रहता है तो उसके मन में अशुभ विचार उत्पन्न ही नहीं होते। अशुभ विचारों के अभाव में उसका जीवन पवित्र बना रहता है। ५. 'आपः' शब्द का अर्थ आप्त पुरुष भी है—चरित्र व ज्ञान की दृष्टि से ऊँचे पुरुषों का सङ्ग हमें निश्चितरूप से पाप से बचाता ही है। ६. 'आपः' का अर्थ

'सर्वव्यापक प्रभु' भी है। वह सर्वव्यापक प्रभु हमें पापों से बचाए। प्रभु का स्मरण पवित्रता का सर्वमहान् साधन है। ७. (क) मुझे आपः 'कर्म' इस प्रकार पाप से छुड़ा देते हैं जैसेकि पादुका को पहनना छोड़ने से मनुष्य तदुत्पन्न दोषों से छूट जाता है। आलस्य गया-दोष गये। (ख) आपः='आप्त पुरुष' मुझे इस प्रकार पापों से मुक्त कर देते हैं जैसेकि स्नान व्यक्ति को पवित्र कर देता है। आप्त पुरुषों के उपदेश की जलधाराएँ पापरूपी स्वेद को दूर कर देती हैं। (ग) **आपः**=सर्वव्यापक प्रभु पवित्र हैं, उनके ध्यान में छनकर मैं इस प्रकार पवित्र हो जाता हूँ जिस प्रकार कि घृत छलनी में से छनकर पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—कर्मशीलता, आप्त पुरुषों का सङ्ग, सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण मुझे पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्-उत्तर-उत्तम

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥२१॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार उत्तरोत्तर पवित्र होते हुए हम प्रभु को प्राप्त होते हैं' इस बात को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि **वयम्**=हम **उत्**=उत्कृष्ट **तमसः**=तमोबहुल अन्धकारमय प्रकृति से **परि**=परे **अगन्म**=चलें। इस प्रकृति से ऊपर उठें। प्राकृतिक भोगों में ही फँसे न रह जाएँ। यह प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु जीव को इसके अन्दर आसक्त नहीं हो जाना। इससे ऊपर उठना है। २. इससे परे **उत्तर**=प्रकृति व जीव की तुलना में जीव श्रेष्ठ है, क्योंकि वह चेतन है। इस **उत्तर**=उत्कृष्ट **स्वः**=(स्वयं राजते) स्वयं राजमान चैतन्ययुक्त इस जीव को **पश्यन्तः**=देखते हुए हम आगे बढ़ें। प्राकृतिक भोगों में न फँसनेवाला व्यक्ति ही आत्मस्वरूप का दर्शन कर पाता है। ३. इस आत्मस्वरूप को देखते हुए हम उस **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को **अगन्म**=प्राप्त हों, जो **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव हैं। उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सब सूर्यादि देव चमक रहे हैं। इन सब देवों को दीप्ति देनेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम प्रकाशमय प्रभु को हम प्राप्त करें। प्रभु उत्तम हैं, वे पूर्ण चैतन्य होने से पूर्ण आनन्दमय हैं। ४. प्रकृति 'उत्'=उत्कृष्ट है, जीव 'उत्तर' अधिक उत्कृष्ट है, प्रभु 'उत्तम' हैं, सर्वाधिक उत्कृष्ट हैं, उत्कृष्टता की सीमा हैं। हम पवित्र बनते हैं जब प्रकृति में नहीं फँसते। पवित्रतर होते हैं, जब आत्मस्वरूप को देखने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु का दर्शन हमें पवित्रतम बना देता है। शुद्ध प्रभु में जीवन भी शुद्ध हो जाता है (तादृगेव)।

भावार्थ—प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु उसमें आसक्त न होकर उसका ठीक प्रयोग करते हुए हम आत्मस्वरूप का दर्शन करें। अधिकाधिक पवित्र होते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रस से संसर्ग

अपोऽअद्यान्वचारिषꣳरसेन समसृक्ष्महि।
पयस्वानग्नऽआगमं तं मा सꣳसृज वर्चसा प्रजया च धनेन च ॥२२॥

१. गतमन्त्र के 'प्रभु-मिलन' के लिए **अद्य**=आज ही से मैंने **आपः अनु अचारिषम्**=कर्मों का व आप्त पुरुषों का अनुसरण किया है। मैंने सब प्रकार के आलस्य की भावना को परे फेंककर कर्मशीलता को स्वीकार किया है और आप्तजनों के ही सम्पर्क में रहने व उनके

पदचिह्नों पर चलने का निश्चय किया है परिणामतः २. **रसेन**=(रसो वै सः) उस रसरूप आनन्दमय प्रभु से **समसृक्ष्महि**=संस्पृष्ट हुआ हूँ। कर्मशीलता व सत्संग मेरे प्रभु-मिलन के साधन बने हैं। ३. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **पयस्वान्**=आप्यायन व वर्धनवाला होकर **आगमम्**=मैं आपके समीप आया हूँ। उन्नति करनेवाला पुरुष ही परमात्मा को पाता है। ४. **तं मा**=उस मुझे आप **वर्चसा**=शक्ति से **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **च**=तथा **धनेन च**=धन से भी **संसृज**=संसृष्ट कीजिए। इस जीवन की उत्तमता के लिए (क) सबसे पहली वस्तु शक्ति है। शक्ति के बिना सब व्यर्थ है। (ख) अपने स्वास्थ्य के बाद संसार को सुन्दर बनानेवाली दूसरी वस्तु उत्तम सन्तान है। सन्तान उत्तम न हो तो घर नरक बन जाता है। (ग) संसार को चलाने के लिए धन भी चाहिए। उसके बिना संसार चलना सम्भव नहीं। स्वर्गतुल्य घर तभी बनता है जब शरीर में शक्ति हो, सन्तानें उत्तम हों तथा धन का अभाव न हो।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता व आप्तपुरुषों के सङ्ग से रसरूप परमात्मा से मेल कर सकें। उन्नत होते हुए प्रभु को प्राप्त करें। वे प्रभु हमें 'शक्ति, उत्तम सन्तान व धन' दें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समित्**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उदार इच्छाएँ

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
समावर्वर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः। समु विश्वमिदं जगत्।
वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून्कामान्व्यश्नवै भूः स्वाहा॥२३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उस रसमय प्रभु से अपना सम्पर्क बनानेवाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि **एधः असि**=आप सदा से बढ़े हुए हैं। आप प्रत्येक गुण का निरतिशय रूप हैं। **एधिषीमहि**=आपके सम्पर्क से हम भी बढ़नेवाले बनें। २. **समित् असि**=आप सम्यक् दीप्त ज्ञानाग्निरूप हैं। आपकी कृपा से मेरी ज्ञानाग्नि भी दीप्त हो। ३. **तेजः असि**=आप तेजस्विता के पुञ्ज हैं। **तेजः मयि धेहि**=आप मुझमें तेजस्विता का आधान कीजिए। ४. इस 'वर्धन-ज्ञानाग्निदीपन व तेजस्विता' के लिए मैं उसी प्रकार अपने दैनिक कार्यक्रम का ठीक से आवर्तन करूँ जैसेकि **पृथिवी समाववर्ति**=पृथिवी सम्यक्तया आवृत्त हो रही है। **उ**=और **उषाः**=उषा **उ**=तथा **सूर्यः**=सूर्य भी **सम्**=नियमपूर्वक आवर्तन में चल रहा है। बहुत क्या? **इदं विश्वं जगत्**=यह सम्पूर्ण संसार **उ**=भी **सम्**=सम्यक् आवर्तन कर रहा है। इस संसार से प्रेरणा लेकर मैं भी सम्यक् आवर्तनवाला बनूँ। मेरी दिनचर्या बड़ी ठीक हो। ५. इस प्रकार प्राकृतिक जगत् के आवर्तन की भाँति अपने दैनिक कार्यक्रम का ठीक आवर्तन करता हुआ मैं **वैश्वानरज्योतिः**=सब मनुष्यों के सञ्चालक प्रभु की ज्योतिवाला बनूँ, प्रभु के तेज से तेजस्वी बनूँ। ६. **विभून्**=व्यापक **कामान्**=इच्छाओं को **व्यश्नवै**=प्राप्त करूँ। मेरी कमानाएँ उदारता को लिये हुए हों। संकुचित, स्वार्थमयी इच्छाओंवाला मैं न होऊँ। ७. इस प्रकार उत्तम जीवनवाला बनकर **भूः**=मैं प्राणशक्ति का पुञ्ज बनूँ और **स्वाहा**=उस आत्मा के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं 'वर्धन-ज्ञानाग्निदीपन व तेजस्वितावाला' होऊँ। सूर्य-चन्द्र आदि की भाँति व्यवस्थित क्रियाओंवाला बनूँ। प्रभु के तेजोंऽश को प्राप्त करूँ। उदारमना बनूँ। प्राणशक्तिसम्पन्न होकर समर्पण की वृत्तिवाला होऊँ।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रत और श्रद्धा

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्॥२४॥

१. हे **अग्ने**=सारे संसार के सञ्चालक प्रभो! **व्रतपते**=व्रतों का पालन करनेवाले प्रभो! **त्वयि**=आपकी प्राप्ति के निमित्त **समिधम्**=ज्ञान की दीप्ति को **अभ्यादधामि**=मैं धारण करता हूँ, ज्ञान के अभ्यास के द्वारा तीव्र हुई-हुई बुद्धि से ही मैं आपका दर्शन कर पाऊँगा। २. आपकी बनाई हुई यह भौतिक अग्नि भी व्रतपति है। मैं उस अग्नि में समिधा रखता हूँ और इस दीप्त हुई अग्नि से **दीक्षितः**=दीक्षित हुआ-हुआ **अहम्**=मैं **व्रतं च श्रद्धाम्**=व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। प्रभु अपने नियमों व व्रतों को तोड़ते नहीं, यह अग्नि भी अपने व्रतों को तोड़ती नहीं। घृत व हव्य पदार्थों की आहुति देनेवाले के हाथ को भी यह जलाती है। मैं भी इससे दीक्षा लूँ और इस संसार में मुझे 'स्तुति-निन्दा, सम्पत्ति-विपत्ति व जन्म-मृत्यु' भी अपने व्रतों से विचलित न कर सकें। ३. इस प्रकार निष्कामभाव से व्रतों का पालन करता हुआ मैं हे प्रभो! **त्वा**=आपको **इन्धे**=अपने हृदयाकाश में दीप्त करनेवाला बनूँ। निष्काम होकर श्रद्धा से व्रतों का पालन ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—१. प्रभु-प्राप्ति के निमित्त मैं अपने में ज्ञानदीप्ति को धारण करूँ। २. व्रत और श्रद्धा को धारण करनेवाला बनूँ। ३. निष्कामभाव से व्रतों का श्रद्धापूर्वक पालन मेरे हृदय को प्रभु के प्रकाश से पूर्ण करेगा।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पुण्यलोक

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥२५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार व्रत और श्रद्धा को धारण करनेवाला व्यक्ति जिस पुण्यलोक को प्राप्त करता है, उसका वर्णन करते हैं कि **यत्र**=जहाँ **ब्रह्म च क्षत्रम्**=ज्ञान और बल **सम्यञ्चौ**=सम्यक् प्रकट होनेवाले **सह चरतः**=साथ-साथ विचरते हैं। ज्ञान 'ब्रह्म' है। 'बृहि वृद्धौ' यह सब प्रकार की वृद्धि का कारण है। बल 'क्षत्र' है—यह सब प्रकार के क्षतों से त्राण करनेवाला है, आघातों से, चोटों से बचानेवाला है। ये **सम्यञ्च**=सम्यक् प्रकट होनेवाले हों, अर्थात् इनका उत्तम विकास हुआ हो। उत्तम लोक वही है जहाँ इस ब्रह्म व क्षत्र का साथ-साथ विकास होता है। अकेला ज्ञान जीवन को सुन्दर नहीं बनाता, अकेला बल जीवन को पाशविक-सा बना देता है। २. मैं **तं पुण्यं लोकम्**=उस पुण्यलोक को **प्रज्ञेषम्**=(ज्ञानीयाम्—द०) जानूँ, अर्थात् प्राप्त करूँ। **यत्र**=जहाँ **देवाः**=सब देव **अग्निना सह**=अग्नि के साथ होते हैं। विद्वान् मन्त्रिवर्ग देव हैं, राजा 'अग्नि' है। उत्तमलोक व राष्ट्र वही है जहाँ मन्त्री राजा के साथ होते हैं, जहाँ इनका परस्पर विरोध नहीं होता। ३. वस्तुतः इस प्रकार मन्त्रियों व राजा में अविरोध होने पर राष्ट्र-व्यवस्था बड़ी सुन्दरता से चलती है। उस व्यवस्था में वे इस बात का पूर्ण ध्यान करते हैं कि (क) राष्ट्र में कोई अनपढ़ न रहे, ज्ञान का सम्यक् विकास हो तथा राष्ट्र में कोई भी निर्बल न हो। (ख) स्वास्थ्य की व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर हो। सफ़ाई व खान-पान का सब प्रबन्ध ठीक होने से लोगों की

शक्ति बढ़े। शिक्षणालय ज्ञानवृद्धि का कारण बनें, व्यायामशालाएँ बलवृद्धि की हेतु हों।

भावार्थ—पुण्यलोक वही है जहाँ (क) ज्ञान के साथ बल का भी विकास है। (ख) जहाँ मन्त्रिवर्ग व ज्ञानीवर्ग राजा के साथ ऐकमत्यवाला होकर राष्ट्र की उन्नति में तत्पर है। वे मिलकर राष्ट्र में शिक्षणालयों की स्थापना करते हैं, व्यायामशालाओं का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्र+वायु

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते॥२६॥

१. गतमन्त्र के पुण्यलोक का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यत्र**=जहाँ **इन्द्रः च वायुः च**=इन्द्र और वायु, अर्थात् बल की देवता तथा गति (=ज्ञान) की देवता (गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च) **सम्यञ्चौ**=सम्यक् विकासवाले होते हुए **सह चरतः**=साथ-साथ विचरते हैं, अर्थात् जहाँ सब लोग सबल तथा ज्ञानसम्पन्न हैं २. **तम्**=उस **पुण्यं लोकम्**=शुभ लोक को **प्रज्ञेषम्**=(प्रजानीयाम्) मैं जान पाऊँ, **यत्र**=जिस लोक में **सेदिः**=अन्न के न प्राप्त होने से होनेवाला विनाश **न विद्यते**=नहीं है। ३. राष्ट्र में सब मन्त्री राजा के साथ मिलकर इस प्रकार व्यवस्था करते हैं कि राष्ट्र में अन्न की कमी नहीं होती। राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं मरता। राजा ने जहाँ यह व्यवस्था करनी है कि सभी सबल हों (इन्द्र), सभी ज्ञानसम्पन्न हों (वायु), वहाँ उसे सभी के लिए अन्न भी प्राप्त कराना चाहिए, आपस्तम्ब के शब्दों में **'नास्य विषये कश्चित् क्षुधयावसीदेत्'** इसके राष्ट्र में कोई भी भूख से अवसन्न (मृत) न हो।

भावार्थ—पुण्यलोक में 'इन्द्र और वायु' का स्थापन होता है, अर्थात् वहाँ के निवासी सबल व सज्ञान होते हैं। इनमें कोई निर्बल व मूर्ख नहीं होता। अन्नाभाव से कोई मरता नहीं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशुना अंशुः

अꣳशुना ते अꣳशुः पृच्यतां परुषा परुः।
गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसोऽअच्युतः॥२७॥

१. गतमन्त्र में वर्णित पुण्यलोक के निवासियों के लिए ही कहते हैं कि **अंशुना**=ज्ञान की किरण के साथ **ते**=तेरी **अंशु**=ज्ञान की किरण **पृच्यताम्**=संपृक्त हो, अर्थात् तेरा ज्ञान-प्राप्ति का तन्तु कभी विच्छिन्न न हो। **'हिरण्यमस्तृतम् भव'**=तू अविच्छिन्न ज्ञानवाला बन, अर्थात् तेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता चले। २. शरीर में **परुषा**=जोड़ के साथ **परुः**=जोड़ **पृच्यताम्**=ठीक जुड़ा हो। अङ्गों का शरीर में सन्धान बिलकुल ठीक हो। जोड़ों के ढीले हो जाने पर जैसे एक गाड़ी पुराना छकड़ा-सा बन जाती है, उसी प्रकार तेरा यह शरीर-रथ जीर्णशीर्ण-सा न बन जाए। इसमें सब जोड़ ठीक से जुड़े हों। ३. 'तेरा ज्ञान अविच्छिन्न हो' तथा 'तेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक से सटे हुए हों' इन दोनों बातों के लिए **ते**=तेरा **गन्धः**=(सम्बन्धः) प्रभु के साथ सम्पर्क **सोमम्**=शरीर में सोमशक्ति को **अवतु**=सुरक्षित करे। सोम की रक्षा होने पर ही ज्ञान की अविच्छिन्नता व शरीर की दृढ़ता सम्भव है। ४. यह **अच्युतः**=न क्षरित हुआ **रसः**=जीवन को रसमय बनानेवाला अथवा ओषधियों का

सारभूत सोमरस तेरे उल्लास के लिए होता है। ओषधियों के सेवन से रसादि क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम जब प्रभु-स्मरण के द्वारा शरीर में ही सुरक्षित किया जाता है तब यह एक अद्भुत मस्ती का कारण होता है। जीवन में इस सोम का पान (रक्षण) करनेवाला व्यक्ति उल्लास का अनुभव करता है।

भावार्थ—हमारा ज्ञान अविच्छिन्न हो, शरीर सुदृढ़ हो। प्रभु-स्मरण के द्वारा हम अपने सोम की रक्षा करें, न क्षरित हुआ-हुआ यह सोम हमारे जीवन में उल्लास देनेवाला हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

किन्त्वः

सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च।
सुरायै बभ्रवै मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः॥२८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम की रक्षा करनेवाले व्यक्ति इस सोम को **सिञ्चन्ति**=शरीर में ही सिक्त करते हैं, **परिषिञ्चन्ति**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में इसे सिक्त करने के लिए यत्नशील होते हैं **उत्सिञ्चन्ति** =और अन्ततः इसे ऊर्ध्वगति के द्वारा मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि में सिक्त करते हैं। अग्नि में जैसे घृत डालते हैं, उसी प्रकार ये मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि में इस सुरक्षित सोम को समिधा के रूप में रखते हैं और उसे दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। २. इस प्रकार ये व्यक्ति-ज्ञानाग्नि में सोम का सेचन करके ज्ञानवृद्धि के द्वारा **पुनन्ति च**=अपने को पवित्र करते हैं। ३. इस ज्ञान के द्वारा अपने को पवित्र करके वे **सुरायै**=(सुर् to shine) चमकने के लिए होते हैं, ज्ञान की दीप्ति से मनुष्य क्यों न चमकेगा? क्षात्रबल से ब्रह्मबल की दीप्ति कहीं अधिक है। चमकने के साथ यह **बभ्रवै**=उत्तम भरण व पोषण के लिए होता है। मस्तिष्क में 'ब्रह्म' (ज्ञान) है तो इसके शरीर में 'क्षत्र' (बल) होता है। ज्ञान से वासनाओं के विनाश के कारण ही शरीर में शक्ति सुरक्षित रहती है। ४. इस प्रकार ज्ञान व शक्ति होने पर इसके जीवन में एक विशेष उल्लास होता है और **मदे**=उस उल्लास के होने पर यह अपने को ही प्रेरणा-सी देते हुए **वदति**=कहता है कि **किन्त्वः**='कस्य त्वम्' आज तू उस आनन्दमय प्रजापति परमात्मा का बना है। उस **कः**='अनिर्वचनीय परमात्मा' का बनने के कारण ही तेरा नाम **किन्त्वः**=इस प्रकार हो गया है।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करें, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्यापक रक्खें, उसकी ऊर्ध्वगति करें। इससे हम अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ। ज्ञान की दीप्ति व शरीर का ठीक पोषण होने पर जो एक विशेष उल्लास प्राप्त होता है, उसे प्राप्त कर लेने पर हम अपने लिए कह सकेंगे कि 'तू आज उस आनन्दमय अनिर्वचनीय महिमावाले प्रभु का हो गया है', तेरा नाम ही 'किन्त्व' प्रसिद्ध हुआ है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ध्यान-दान-शोधन-स्तवन

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥२९॥

१. गतमन्त्र का 'किन्त्व' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशील प्रभो! हे **प्रातः** =(प्रा पूरणे) हममें सब अच्छाइयों को भरनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **जुषस्व**=प्रेम करनेवाले होओ, अर्थात् मैं आपका प्रिय बनूँ। जैसे सदा पढ़ाई में प्रथम निकलनेवाले पुत्र से पिता प्रेम करता है, इसी प्रकार मैं भी अपनी उत्तम क्रियाओं से प्रभु का प्रिय बनूँ। २.

किस प्रकार के जीवनवाले मुझसे प्रभु प्रेम करें? **धानावन्तम्** =(धान=अवधान=ध्यान) उत्तम ध्यानवाले मुझको। जीवन-यात्रा की पहली मंजिल में मेरा यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि मैं माता-पिता व आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान को ध्यान से सुनूँ और ग्रहण करूँ। जीवन-यात्रा की पहली मंजिल में 'ध्यान' ही मेरा आदर्श वाक्य हो। ३. अब जीवनयात्रा की दूसरी मंजिल में **करम्भिणम्**=(करेण दीयते) हाथों से दिये जानेवाले दान की वृत्तिवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। गृहस्थ में मैं सदा कुछ-न-कुछ दान देनेवाला बनूँ। 'करम्भ' शब्द का अर्थ 'दधिसक्तु' भी होता है। दधि व सक्तु (दही-सत्तू) आदि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करनेवाला मैं आपका प्रेमपात्र बनूँ। ४. अब जीवन-यात्रा के तीसरे प्रयाण में **अपूपवन्तम्** =उत्तम इन्द्रियोंवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। गृहस्थ में थोड़े-बहुत मल से मलिन हुई-हुई इन्द्रियों को वानप्रस्थ में मैं फिर से पवित्र बनाने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ (इन्द्रियम् पूपः—ऐ० २।२४)। तीव्र तप के द्वारा इन्द्रियों को निर्मल बनानेवाला मैं आपका प्रिय बनूँ। ५. शुद्धेन्द्रिय बनकर **उक्थिनम्**=जीवन के चतुर्थाश्रम में निरन्तर आपके स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। सदा आपके स्तवन से अपने जीवन को पवित्र रखनेवाला मैं आपका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह होता है जो—(क) ध्यानवाला होता है, (ख) दान देता है, (ग) इन्द्रियों को शुद्ध रखता है, तथा (घ) सदा प्रभु-नाम स्मरण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**नृमेधपुरुषमेधौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु-स्तवन

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु-स्तवन करनेवाला' बनने से हुई थी। उसी प्रभु-स्तवन के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु के लिए **बृहत् गायत**=खूब ही गायन करो, अथवा उस गायन को करो जो गायन कि 'बृहत्' तुम्हारा वर्धन करनेवाला है तथा **वृत्रहन्तमम्**=(अतिशयेन वृत्रं हन्ति) जो गायन वृत्र का अतिशयेन विनाश करनेवाला है। प्रभु के नाम-स्मरण से वासना नष्ट हो जाती है, मन में अशुभ विचार आते ही नहीं। ३. यह प्रभु के गुणों का गायन वह है **येन**=जिससे **ऋतावृधः**=अपने में **ऋत**=यज्ञ व सत्य का वर्धन करनेवाले लोग **ज्योतिः** =उस ज्योति को **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं, जो **देवम्**=दीप्यमान व हममें दिव्यता को बढ़ानेवाली है तथा **जागृवि**=जागरणशील व अविनश्वर है, जिस ज्ञान की ज्योति से हम सो नहीं जाते, सदा सावधान रहते हैं। ३. यह ज्ञान की ज्योति ही अन्त में **देवाय**=उस प्रभु को प्राप्त कराने के लिए होती है। इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके मनुष्य प्रभु का साक्षात्कार करनेवाला बनता है। ज्ञान-ज्योतिवाला पुरुष इस जीवनयात्रा में भटकता नहीं है। यह आगे बढ़ता हुआ उस प्रभु को प्राप्त करता है, जो **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=अन्तिम लक्ष्य-स्थान है।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें। यह गायन (क) हमारा वर्धन करेगा, (ख) वासनाओं को विनष्ट करेगा, (ग) हम ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले होंगे और (घ) हममें वह ज्ञान-ज्योति उत्पन्न होगी, जो हमें दिव्य बनाएगी, सदा जागरणशील—सावधान रक्खेगी तथा हमें प्रभुरूप लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाएगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्राय-पातवे

अध्वर्योऽअद्रिभिः सुतꣳसोमं पवित्रऽआ नय। पुनाहीन्द्राय पातवे॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति 'अध्वर्यु' होता है, अध्वर को अपने साथ जोड़ता है। गतमन्त्र में इसे ही 'ऋतावृध्' कहा था। इस अध्वर्यु से कहते हैं कि—हे **अध्वर्यो**=अहिंसक मनोवृत्ति को अपने साथ जोड़नेवाले यज्ञशील पुरुष! **अद्रिभिः**=पाषाणतुल्य दृढ़ शरीरों के निर्माण के हेतु से **सुतम्**=उत्पन्न किये गये **सोमम्**=इस सोम को, वीर्य को **पवित्रे**=जीवन की पवित्रता की साधनभूत ज्ञानाग्नि में **आनय**=सर्वथा प्राप्त करनेवाला बन, अर्थात् इस वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हुए तू इसको अपनी ज्ञानाग्नि का ईधन बना। यह ज्ञानाग्नि समिद्ध होकर तेरे सब दोषों को भस्मसात् करती है। २. इस प्रकार समिद्ध ज्ञानाग्नि से दोषों को भस्म करता हुआ **पुनाहि**=तू अपने को पवित्र बना और अपने को पवित्र करता हुआ तू **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए हो तथा **पातवे**=अपने रक्षण के लिए हो।

भावार्थ—शरीर में सोम की उत्पत्ति इसीलिए की गई है कि (क) शरीर पाषाणतुल्य दृढ़ हो तथा (ख) मनुष्य ज्ञानदीप्त होकर पवित्र जीवनवाला बने और (ग) अन्त में यह प्रभु को प्राप्त कर सके।

ऋषिः—**कौण्डिन्यः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु का ग्रहण

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽअधि श्रिताः।
यऽईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्॥३२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षा द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति प्रभु-दर्शन करता है और कह उठता है कि आप **यः**=जो **भूतानाम् अधिपतिः**=सब भूतों के अधिपति हैं, **यस्मिन्**=जिस आपमें **लोकाः**=सब लोक **अधिश्रिताः**=स्थित हैं, **यः ईशे**=आप ईश हैं, सबका शासन करनेवाले हैं, आप **महतो महान्**=महान् से भी महान् हैं, **तेन**=इस हेतु से **अहम्**=मैं **त्वाम्**=आपको **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। 'प्रकृति व परमात्मा' के चुनाव में आपको चुनता हूँ। २. आपका वरण करनेवाला मैं भी (क) भूतों का अधिपति बन पाऊँगा। ऐसा बन सकने पर मेरा स्वास्थ्य कभी विकृत न होगा। (ख) सब लोक मुझमें स्थित होंगे—मैं सभी को आश्रय देनेवाला बनूँगा। (ग) अपनी इन्द्रियों का ईश—शासन करनेवाला बनूँगा, न कि दास। (घ) इस प्रकार जितेन्द्रियता व आत्मशासन के द्वारा मैं बड़े-से-बड़ा बनने का प्रयत्न करूँगा, विशाल हृदयवाला होऊँगा। इस प्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**=आपको **मयि**=अपने में **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, आपको अपने जीवन में धारण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का अपने में धारण करने का अभिप्राय है कि (क) हम पृथिवी आदि भूतों के पूर्ण अधिपति बनते हुए स्वस्थ बनें, (ख) हम सब लोकों के शरणस्थान बनें, (ग) अपनी इन्द्रियों के ईश बनें, और (घ) विशाल-से-विशाल हृदयवाले हों।

सूचना—**'मयि गृह्णामि त्वामहम्'** का शब्दार्थ इस रूप में भी है कि मैं आपको अन्दर ग्रहण करता हूँ। प्रभु का ग्रहण जब कभी भी होगा, हृदयाकाश में ही होगा। प्रभु को बाह्य वस्तुओं में गृहीत नहीं किया जा सकता। मूर्त्ति में उसका दर्शन न होकर हृदय में होगा।

ऋषिः—**काक्षीवत्सुकीर्तिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का ग्रहण क्यों?

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णेऽएष ते योनिरश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥३३॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु-ग्रहण' का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि वह प्रभु-ग्रहण कैसे होगा और प्रभु-ग्रहण क्यों आवश्यक है? **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप **उप**=उपासना द्वारा **याम**=यम-नियमों के धारण करने से गृहीत होते हैं, अर्थात् आपका धारण मैं तभी कर पाऊँगा जब (क) उपासना को अपनाऊँगा और (ख) उपासना के द्वारा मेरा जीवन यम-नियमों के बन्धन में बँधा हुआ होगा। २. **त्वा**=मैं आपको (क) **अश्विभ्याम्**=प्राणपान के लिए ग्रहण करता हूँ। आपकी उपासना से मेरी प्राणापान शक्ति की वृद्धि होगी। (ख) **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिदेवता के लिए। आपके ग्रहण से मेरा ज्ञान बढ़ेगा तथा (ग) **इन्द्राय**=इन्द्रशक्ति के लिए। आपकी उपासना व ग्रहण से मेरा आत्मिक बल बढ़ता है और अन्त में (घ) **सुत्राम्णे**=उत्तमता से अपने त्राण के लिए। आपके धारण से मैं केवल शारीरिक रोगों से ही नहीं बचता, मानस विकारों से भी मैं अपनी रक्षा कर पाता हूँ। आपका धारण मुझे शरीर की व्याधियों के साथ मन की आधियों से भी बचाता है। ३. इस सारी बात का ध्यान करते हुए **एषः**=यह मैं **ते योनिः** =तेरा गृह बनता हूँ। मैं घर होऊँ और आप उस घर के पति। ऐसा मैं इसीलिए चाहता हूँ कि **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान के लिए **सरस्वत्यै त्वा**=ज्ञान की अधिदेवता के लिए तथा **इन्द्राय**=प्राणशक्ति के विकास के लिए तथा **सुत्राम्णे**=उत्तमता से अपना धारण करने के लिए समर्थ हो सकूँ।

भावार्थ—उपासना व यम-नियमों के पालन से हम परमात्मा का अपने में ग्रहण करें, जिससे हमारी प्राणापानशक्ति की वृद्धि हो, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो, हमारी आत्मशक्ति का विकास हो तथा हम उत्तमता से अपना त्राण कर सकें—आधि-व्याधियों से बच सकें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मन का विलायक

प्राणपा मेऽअपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उपासना व यम-नियमों के पालन से प्रभु का अपने में ग्रहण करनेवाला व्यक्ति अनुभव करता है कि हे प्रभो! आप **मे**=मेरे **प्राणपाः**=प्राणों की रक्षा करनेवाले हो। **अपानपाः**=मेरे अपान की रक्षा करनेवाले हो। जहाँ आप मेरे बल को बढ़ाते हैं, वहाँ मेरी दोष-दूरीकरण की शक्ति को भी स्थिर रखते हैं। २. **चक्षुष्पाः**=आप मेरी आँखों की रक्षा करनेवाले हैं तथा **श्रोत्रपाः च मे**=मेरे श्रोत्रों को सुरक्षित करनेवाले हैं। इन सुरक्षित आँखों व श्रोत्रों की शक्ति से मेरा ज्ञान निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता है। प्राणापान की रक्षा से शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त हुआ था तो इन चक्षुः=नेत्रों की रक्षा से मुझे दृष्टि का स्वास्थ्य मिलता है। ३. हे प्रभो! आप **मे वाचः** =मेरी वाणी के **विश्वभेषजः**=सब दोषों की औषध हैं। मेरी वाणी आपकी उपासना से पवित्र होकर अपशब्दों व अनृत का उच्चारण नहीं करती, वह आपके नामजप आदि पवित्र कार्यों में ही प्रवृत्त रहती है। और ४. हे प्रभो! आप **मनसः**=मेरे मन के **विलायकः असि**=विलायक हैं (विलाययति विषयेभ्यो निवर्त्यात्मनि

स्थापयति–म०) मेरे मन को विषयों से व्यावृत्त करके अपने में स्थापित करनेवाले हैं। भौतिक वस्तुओं में थोड़ी देर तक स्थिर रहकर मन फिर भटक जाता है, क्योंकि उनका आगा-पीछा देखकर उसकी उत्सुकता समाप्त हो जाती है, परन्तु एक बार प्रभु में चलने लगा तो वह फिर ओर-छोर को न पाकर वहीं उलझा रह जाएगा। उस प्रभु की अनन्तता में ही विलीन-सा हो जाएगा, अतः मन प्रभु को पाकर ही स्थिर होगा। अन्यथा भटकता ही रहेगा।

भावार्थ–जब हम प्रभु को अपने में धारण कर पाते हैं तब (क) प्राणापान सुरक्षित होकर हमारे शरीर का बल बढ़ता है, (ख) चक्षुः-श्रोत्र की रक्षा लेकर हमारा ज्ञान बढ़ता है, (ग) हमारी वाणी प्रभुनाम-स्मरण से सब दोषों से निवृत्त हो जाती है, हम शुभ ही शब्दों को बोलते हैं, (घ) प्रभु में हमारा मन ऐसा विलीन हो जाता है कि अपने आप ही वह विषयव्यावृत्त हो जाता है, विषय उसके लिए नीरस हो जाते हैं।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः–**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**। स्वरः–**मध्यमः**॥

उपहूत का उपहूत

अश्विनकृतस्य ते सरस्वतिकृतस्येन्द्रेण सुत्राम्णा कृतस्य।
उपहूत उपहूतस्य भक्षयामि॥३५॥

१. गतमन्त्र में प्रभु का आराधन करते हुए कहा गया था कि आप ही हमारे प्राणापान की शक्ति के व ज्ञानादि के रक्षक हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि इस शक्ति की रक्षा व ज्ञानवृद्धि के साधनभूत 'सोम' की आपने हममें स्थापना की है। हे प्रभो! मैं **ते**=आपके सोम का **भक्षयामि** =भक्षण करता हूँ–उसे अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ। उस सोम का जो २. **अश्विनकृतस्य**=(आश्विनाभ्यां कृतस्य–म०) प्राणापान के हेतु से किया गया है। यहाँ तृतीया का प्रयोग उसी प्रकार है जैसेकि (अध्ययनेन वसामि=अध्ययन के हेतु से रहता हूँ)। इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। ३. **ते**=तेरे उस सोम का जो **सरस्वतिकृतस्य** =विद्या की अधिदेवता के हेतु से किया गया है, अर्थात् इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है। ४. उस सोम का मैं भक्षण करता हूँ जो **इन्द्रेण कृतस्य**='इन्द्र' के हेतु से उत्पन्न किया गया है। **'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'** इन्द्र के सब कर्म सबल होते हैं। सोम की रक्षा से मेरे भी सब कार्य शक्तिसम्पन्न होते हैं और मैं सब असुरों का, आसुरवृत्तियों का संहार करके सचमुच देवराट्=दिव्य गुणों से चमकनेवाला इन्द्र बनता हूँ। ५. मैं उस सोम का भक्षण करता हूँ जोकि **सुत्राम्णा कृतस्य**=उत्तम त्राण के हेतु से उत्पन्न किया गया है। इस सोम के रक्षण से मैं शरीर को व्याधियों से और मन को आधियों से बचा पाता हूँ और इस प्रकार यह सोम मेरे लिए सुत्रामन् होता है। मैं भी इसकी रक्षा के द्वारा 'सुत्रामा' बनता हूँ। ६. उस सोम का भक्षण करनेवाला मैं कौन हूँ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **उपहूतस्य**=प्रतिदिन प्रातः-सायं (कृतोपहवस्य–म०) पुकारे गये व समीप बुलाये गये उस प्रभु का **उपहूतः**=उपहूत मैं हूँ। मैं प्रभु का आह्वान करता हूँ। प्रभु मुझे अपने समीप बुलाते हैं। ७. प्रभु का उपासन सोमरक्षण का सर्वोत्तम साधन है और यह सुरक्षित सोम हमारी प्राणापान शक्ति को बढ़ाता है, हमारे ज्ञान को बढ़ाता है, हमें असुर-संहार-समर्थ देवराट् इन्द्र बनाता है और हम इसकी रक्षा से शरीर व मन को पूर्ण नीरोग बनानेवाले 'सुत्रामा' बनते हैं।

भावार्थ—उपहूत प्रभु के हम उपहूत बनें और सोमरक्षण के द्वारा प्राणापान की शक्ति, ज्ञान व इन्द्रशक्ति का वर्धन करें तथा शरीर व मन को नीरोग बना पाएँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

द्वारोद्घाटन

समिद्धऽइन्द्रऽउषसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद्वावृधानः।
त्रिभिर्देवैस्त्रिꣳशता वज्रबाहुर्जघान वृत्रं वि दुरो ववार॥३६॥

१. गतमन्त्र का सोमभक्षण करनेवाला व्यक्ति अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला बनकर 'आङ्गिरस' बनता है और अग्रिम ग्यारह मन्त्रों का ऋषि यह 'आङ्गिरस' ही है। यह आङ्गिरस=सोम का पान व रक्षण करनेवाला व्यक्ति **समिद्धः**=ज्ञान से खूब दीप्त बनता है। २. **इन्द्रः**=सब इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न 'इन्द्र' बनता है। ३. यह **उषसाम् अनीके** (अनीकं मुखम्)=उषःकालों के अग्रभाग में ही **पुरोरुचा**=अग्रतो गामिनी दीप्ति से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ होता है, अर्थात् बहुत प्रातःकाल में ही स्वाध्यायादि के द्वारा उस ज्ञान को यह धारण करनेवाला होता है, जो ज्ञान इसकी निरन्तर उन्नति का कारण बनता है। ४. यह **पूर्वकृत्**=पूर्वदिशा को अपनी दिशा बनानेवाला होता है। यह दिशा 'उदय की दिशा' है—यह अपने जीवन में 'सत्य, यश व श्री' के दृष्टिकोण से उदयवाला होता है। ५. उदय के मार्ग पर चलता हुआ यह **त्रिभिः त्रिंशता देवैः**=तेतीस देवों से सम्पन्न होता है। ६. **वज्रबाहुः**=क्रियाशीलतारूप वज्र (वज् गतौ) को हाथों में लिये होता है और **वृत्रं जघान**=इस वज्र से ज्ञान की आवरणभूत 'वृत्र' नामक वासना को नष्ट कर देता है। ७. वासना को नष्ट करके यह **दुरः**=मोक्षलोक के चार द्वारों को **विववार**=खोल डालता है। मोक्ष के चार द्वार **'शमो विचारः संतोषः चतुर्थः साधुसंगमः'**=शम, विचार, सन्तोष व साधुसंगम हैं। इसके जीवन में ये चारों ही बातें होती हैं—यह शान्त होता है, विचारशील व सन्तोषी बनता है, सदा सत्सङ्ग में रुचिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक (उपहूत) स्वाध्याय द्वारा ज्ञानसमिद्ध बनता है। उन्नति करता हुआ सब देवों को अपने में धारण करता है, क्रियाशील जीवन के द्वारा वासना से ऊपर उठता है और मोक्ष के चारों द्वारों को अपने लिए खोलता हुआ 'शान्त, विचारशील, सन्तोषी व सत्सङ्गी' बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**तनूनपात्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ का धाम

नराशꣳसः प्रति शूरो मिमानस्तनूनपात्प्रति यज्ञस्य धाम।
गोभिर्वपावान्मधुना समञ्जन्हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः॥३७॥

१. गतमन्त्र का आङ्गिरस चारों मोक्ष द्वारों को खोलनेवाला **नराशंसः**=(नरैः आ=समन्तात् शंस्यते) सर्वत्र मनुष्यों से प्रशंसित होता है। यह २. **प्रति-शूरः**=प्रत्येक वासना व शत्रु से मुक़ाबला करनेवाला वीर होता है। ३. **प्रतिमिमानः**=कार्य को माप-तोलकर करनेवाला होता है और ४. इसीलिए **तनू-न-पात्**=शरीर को वह गिरने नहीं देता, शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाये रखता है। ५. **यज्ञस्य धाम**=(यज्ञो वै विष्णुः) सृष्टियज्ञ को करनेवाले सर्वव्यापक 'यज्ञ' नामक प्रभु का यह घर (निवासस्थान) बनता है। ६. जब यह अपने हृदय में प्रभु को बिठा लेता है तब **गोभिः**=उस हृदयस्थ प्रभु से उच्चारण की गई वेदवाणियों के द्वारा

यह **वपावान्**=(वप्=बोना) प्रशस्त गुणों के बीजों को बोनेवाला होता है। अपने अन्दर उत्तम गुणों का विकास करता है। ७. **मधुना समञ्जन्** =माधुर्य से अपने जीवन को अलंकृत करता है। इसका व्यवहार व वाणी अत्यन्त मधुर होते हैं। अन्दर गुण हों तो वाणी व व्यवहार में माधुर्य होना ही चाहिए। ८. **हिरण्यैः**=(हितरमणीयैः) हितरमणीय ज्ञानों के द्वारा, वीर्य के द्वारा शक्तियुक्त होने के कारण **चन्द्री**=यह सदा आह्लाद—प्रसन्नता की वृत्तिवाला होता है। ९. **यजति**=यज्ञशील होता है—(क) बड़ों का आदर करता है, (ख) बराबरवालों से मिलकर चलता है तथा (ग) देने की शक्तिवाला होता है। १०. **प्रचेताः**=यह प्रकृष्ट चेतनावाला—उत्कृष्ट ज्ञानी बनता है। जीवन को बड़ी समझदारी से उन्नति-पथ पर ले-चलता है, कभी असावधान नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने में धारण करनेवाले बनें, उसकी ज्ञानवाणियों से जीवन में सद्गुणों के बीज बोएँ। माधुर्यवाले हों। सदा आह्लादमय, यज्ञशील व प्रचेता बनें।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पुरन्दरः

ईडितो देवैर्हरिवाँ२॥ऽअभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्द्धमानः।
पुरन्दरो गोत्रभिद्वज्रबाहुरायातु यज्ञमुप नो जुषाणः॥३८॥

१. अपने जीवन को गतमन्त्र के अनुसार बनानेवाला व्यक्ति **देवैः ईडितः**=देवों से स्तुत होता है। विद्वान् लोग इसकी प्रशंसा करते हैं। अथवा **देवैः**=दिव्य गुणों के हेतु से (हेतु में तृतीया) यह (ईडितमस्य अस्ति इति) प्रभु की स्तुति करनेवाला होता है। प्रभु-स्तुति के द्वारा यह दिव्य गुणों को अपने में धारण करनेवाला होता है। २. **हरिवान्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला बनता है। ३. **अभिष्टिः**=(अभिगमनवान्—उ०) कामादि शत्रुओं पर यह आक्रमण करनेवाला होता है। ४. **आजुह्वानः**=समन्तात् यज्ञों को करनेवाला बनता है—यज्ञ इसका स्वभाव हो जाता है। ५. **हविषा** =इस यज्ञ की वृत्ति से, दानपूर्वक अदन की वृत्ति से—यह **शर्द्धमानः**=(शर्ध इति बलनाम अतिबलायमानः—म०) अत्यन्त बलवान् की भाँति आचरण करनेवाला होता है। ६. **पुरन्दरः**=इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में असुरों से बनाये गये पुरों का यह विदारण करनेवाला होता है। यह असुरों की तीनों पुरियों का विध्वंस कर डालता है। वासनाओं को नष्ट करके यह 'पुरन्दर' बनता है। ७. **गोत्रभित्**=जीवनयात्रा में पर्वत के समान आ जानेवाले वासनारूप विघ्नों को यह विदीर्ण करता है, बड़े-से-बड़े विघ्न को यह नष्ट करनेवाला होता है। ८. **वज्रबाहुः**=इसी उद्देश्य से क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेकर चलता है। ९. यह **यज्ञं जुषाणः**=यज्ञों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **नः**=हमारे **उप**=समीप **आयातु**=आये। यज्ञों का सेवन करते हुए ही हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं।

भावार्थ—उपासना से दिव्य गुणों को प्राप्त करते हुए हम यज्ञमय जीवनवाले हों। इससे हमारी शक्ति बढ़ेगी और अन्ततः हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सजोषाः

जुषाणो बर्हिर्हरिवान्नऽइन्द्रः प्राचीनꣳसीदत्प्रदिशा पृथिव्याः।
उरुप्रथाः प्रथमानश्स्योनमादित्यैरक्तं वसुभिः सजोषाः॥३९॥

१. **जुषाणः**=गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार यज्ञों का सेवन करता हुआ २.

हरिवान् प्रशस्त इन्द्रियोंवाला २. **नः**=हमारा अर्थात् प्रभु का भक्त ४. **इन्द्रः**=असुरों का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष ५. **उरुप्रथाः**=खूब विस्तारवाला, उदार हृदयवाला, ६. **सजोषाः**=प्रीति से युक्त, अर्थात् सदा सन्तुष्ट व प्रसन्न (प्रीत्या सहितः सन्तुष्टः—म०) ७. **पृथिव्याः प्रदिशा**=पृथिवी के प्रकृष्ट संकेत से, अर्थात् मानो यह पृथिवी उसे अपने विस्तार का संकेत करती हुई हृदय को भी विस्तारवाला बनाने का उपदेश दे रही हो। इस प्रकार पृथिवी के उपदेश के अनुसार (क) **प्रथमानम्**=अत्यन्त विस्तृत (ख) **स्योनम्**=सुखमय, सदा प्रसन्न (ग) **आदित्यै वसुभिः**=आदित्यों व वसुओं से **अक्तम्** =अलंकृत हो उत्तम, अर्थात् गुणों के आदान की भावना तथा उत्तम निवास बनाने की भावना से सुभूषित **प्राचीनम्**=(प्रागञ्चनं) निरन्तर आगे बढ़ने की भावनावाले व आगे बढ़नेवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **सीदत्**=स्थित होता है।

भावार्थ—मनुष्य (क) यज्ञों का सेवन करे (ख) उत्तम इन्द्रियोंवाला बने (ग) प्रभु का होकर संसार में विचरे (घ) जितेन्द्रिय बने (ङ) उदार हो (च) सदा प्रीतियुक्त हो। ऐसा बनकर यह अपने हृदय को, इस विशाल पृथिवी का स्मरण करते हुए (क) विशाल बनाये (ख) विशालता के द्वारा सुखमय बनाए (ग) गुणों का आदान व उत्तम निवास की भावना से युक्त हो (घ) 'इसमें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना बनी रहे' इस बात का ध्यान करे।

सूचना—पृथिवी अत्यन्त विशाल है। मनुष्य यदि चाहे तो वह बड़ी सुन्दरता से वहाँ अपना जीवन बिता सकता है, परन्तु मनुष्य अपने को तंग नगरों की सीमा में रखने के लिए यत्न करता है, इससे उसका जीवन अधिक कृत्रिम व कष्टमय हो जाता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चार दिव्य द्वार

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः।
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्ताꣳसुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः॥४०॥

१. **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय **वृषाणम्**=शक्तिशाली पुरुष को **कवष्यः**=(कूयन्ते स्तूयन्ते) स्तुति के योग्य अथवा **कवष्यः**=(Shield) ढालरूप **धावमानाः**=जीवन को बड़ा शुद्ध बनानेवाले (धाव्=शुद्धि) **दुरः**=द्वार—'मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' रूप चार द्वार **यन्तु**=प्राप्त हों। ये चारों द्वार उसके लिए **जनयः**=प्रादुर्भाव का कारण बनें, उसकी शक्तियों का विकास करनेवाले हों और **सुपत्नीः**=उत्तमता से उसका रक्षण करनेवाले हों। मुख उत्तम सात्त्विक भोजन का ग्रहण करता है—पायु शरीर में से मलांश को पृथक् करके शरीर का रक्षण करता है। उपस्थ वशीभूत होकर उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाला होता है और वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह सचमुच प्रभु के उपस्थान का कारण बनता है। ब्रह्मरन्ध्र अन्त में आत्मा के शरीर से निकलने का मार्ग होने पर मोक्ष व ब्रह्म-प्राप्ति का कारण बनता है। २. ये **द्वारः**=चारों द्वार **देवीः**=दिव्य द्वार हैं। एक (मुख) उत्तम भोजन के द्वारा शरीर में बल व प्राण का आधान करनेवाला है तो दूसरा (पायु) मलशोधन के द्वारा अपान की शक्ति को ठीक रखकर शरीर को स्वस्थ बनाता है। एवं, ये दोनों द्वार मिलकर शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र मनुष्य की आत्मिक शक्ति के विकास का साधन बन मोक्ष प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार ये चारों द्वार दिव्य हैं। ये **अभितः**=दोनों ओर **विश्रयन्ताम्**=विवृत हों। विवृत होकर ये अपने कार्यों को उत्तमता से करनेवाले हों,

अथवा ये शरीर में विशिष्टरूप से सेवा करनेवाले हों। (श्रिञ् सेवायाम्) अभितः शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ है कि एक ओर मुख है तो दूसरी ओर पायु तथा एक ओर उपस्थ है तो दूसरी ओर ब्रह्मरन्ध्र। ३. **सुवीराः**=ये चारों द्वार उत्तमता से (सु) विशेष करके (वि) बुराइयों को दूर करनेवाले (ईर् कम्पने) हैं। ये चारों द्वार **महोभिः**=अपने-अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों से अथवा तेजस्विताओं से **वीरं प्रथमानाः**=वीर पुरुष का विस्तार करनेवाले होते हैं, अर्थात् उस पुरुष को वीर बनाते हैं। मुख और पायु मुझे शरीर के दृष्टिकोण से वीर बनाते हैं, उपस्थ और ब्रह्मरन्ध्र मुझे आत्मिक बल प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'मुख-पायु, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' रूपी दिव्य द्वार स्तुत्य हैं। ये हमारे जीवनों को पवित्र बनानेवाले हैं। इनके अपना-अपना कार्य ठीक रूप से करने पर हम शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व सुन्दर बनते हैं और आत्मिक बल व वीरता को प्राप्त करते हैं।

सूचना—'कवष्यः' 'कु शब्दे' से बनकर मुख के कार्य का संकेत करता है 'धावमानाः' 'धाव् शुद्धौ' से बनकर पायु के कार्य का, 'जनयः' उपस्थ के कार्य का संकेत करता है और 'सुपत्नीः' 'पा रक्षणे' से बनकर ब्रह्मरन्ध्र के कार्य का।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**उषासानक्ता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

'देवानां देव का पूजन'

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे॥४१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'उषासानक्ता' शब्द पति-पत्नी के लिए है। 'उष दाहे' धातु से उषस् शब्द बनता है—पति अज्ञानान्धकार का दहन करनेवाला होता है। 'नज् to be modest' धातु से बनकर 'नक्त' शब्द स्त्री का वाचक है, जो उचित लज्जा व शालीनतावाली है। ये **उषासानक्ता**=पति-पत्नी **बृहती**=गतमन्त्र के द्वारों के कार्य के ठीक होने से वर्धनवाले हैं। **पयस्वती**=आत्मिक शक्तियों के आप्यायनवाले हैं (पयस्=ओप्यायी वृद्धौ)। २. ये पति-पत्नी उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सुदुघे**=उत्तमता से अपने अन्दर पूरण करनेवाले हैं, जो प्रभु **बृहन्तम्**=सब प्रकार के वर्धन का कारण हैं तथा **शूरम्**=(शृ हिंसायाम्) सब प्रकार की बुराइयों को हिंसित करनेवाले हैं। प्रभु की भावना को अपने में भरने से हमारी शक्तियों का वर्धन होता है और सब आसुर-वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। ३. **ततं तन्तुम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में विस्तृत यज्ञ-तन्तु को **पेशसा**=सुन्दर रूप से **संवयन्ती**=ये सन्तत करनेवाले होते हैं, अर्थात् सृष्टि-प्रारम्भ में प्रभु ने जिस यज्ञ को प्रजाओं के साथ ही उत्पन्न किया है उस यज्ञतन्तु को ये विच्छिन्न नहीं होने देते। इनका जीवन यज्ञरूप बना रहता है। ४. इस यज्ञ से ये पति-पत्नी **देवानां देवम्**=देवाधिदेव परमात्मा को **यजतः**=उपासित करते हैं। यज्ञ द्वारा प्रभु का पूजन करते हैं—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। ५. इस प्रभु के उपासन का ही यह परिणाम होता है कि ये **सुरुक्मे**=उत्तम दीप्तिवाले होते हैं। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की दीप्ति से ये भी दीप्त हो उठते हैं।

भावार्थ—(क) हम प्रभु का अपने में पूरण करें, जिससे हमारा वर्धन हो और हमारी आसुर वृत्तियों का संहार हो, (ख) यज्ञतन्तु को विच्छिन्न न करने के द्वारा हम प्रभु का उपासन करें, (ग) प्रभु-उपासन से हम प्रभु की भाँति दीप्त हो उठें, प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**दैव्याध्यापकोपदेशकौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्राचीनं ज्योति

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होतारावि न्द्रं प्रथमा सुवाचा।
मूर्द्धन्यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः॥४२॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि 'देवानां देव' का यजन करके ये पति-पत्नी 'सुरुक्म'=उत्तम दीप्तिवाले बनते हैं। ये **दैव्या**=(देवस्य इमौ) परमात्मा के ही हो जाते हैं। २. **मिमाना**=अपने जीवन में ये सदा 'यज्ञं निर्मिमाणौ'=श्रेष्ठ कर्मों को करनेवाले होते हैं। अथवा सब कर्मों को माप-तोलकर करनेवाले होते हैं, अर्थात् 'युक्त-चेष्ट' होते हैं। ३. **मनुषः पुरुत्रा**=ज्ञान से—ज्ञान के द्वारा ये अपना पालन व पूरण करनेवाले होते हैं (पृ पालनपूरणयोः, त्रा=रक्षणे)। ४. **होतारौ**=ये सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले होते हैं। ५. **इन्द्रं प्रथमा**=दानपूर्वक अदन से उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को विस्तृत करनेवाले होते हैं। हवि के द्वारा ही वस्तुतः 'प्रभुपूजन' होता है अथवा ये अपने जीवन में प्रभु का विस्तार करनेवाले होते हैं। ६. **सुवाचा** =सदा उत्तम वाणीवाले होते हैं। ७. ये **मधुना**=अपने जीवन के माधुर्य से, माधुर्यमयी क्रियाओं से **यज्ञस्य मूर्धन्**=उत्तम कर्मों के अग्रभाग में **दधाना**=अपने को स्थापित करते हैं, अर्थात् ये उत्तम क्रियाओंवाले होते हैं और अत्यन्त माधुर्यवाले होते हैं। ८. इस प्रकार ये **प्राचीनं ज्योतिः**=(प्राग् अञ्जनम्) निरन्तर अग्रगति व उन्नति के साधक ज्ञान को **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा, **वृधातः**=बढ़ानेवाले होते हैं। स्वार्थ मनुष्य के ज्ञान को नष्ट करता है। मनुष्य जितना-जितना स्वार्थ व काम से ऊपर उठता है उतना-उतना उसका ज्ञान चमकता है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनें, सब क्रियाओं को मापकर करें, अति में न जाएँ, ज्ञान से अपना त्रण करें, होता बनें, प्रभु का अपने में विस्तार करें, उत्तम वाणीवाले हों, माधुर्य के साथ यज्ञों के अग्रभाग में स्थित हों, उस ज्ञान को प्राप्त करें, जो हमारी अग्रगति का साधन बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**तिस्रो दैव्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

तिस्रो देवीः (ज्ञान-श्रद्धा-वाणी)

तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमानाऽइन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः।
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः॥४३॥

१. **तिस्रः देवीः**=तीन दिव्य गुण **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, यज्ञशेष के सेवन से, अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति से **वर्धमानाः**=निरन्तर बढ़ने के स्वभाववाले होते हैं। २. ये तीनों दिव्य गुण **इन्द्रं जुषाणाः**=जितेन्द्रिय पुरुष का सेवन करनेवाले होते हैं। इन्द्र को ही प्राप्त होते हैं। ३. ये तीनों गुण उस इन्द्र के लिए **जनयः पत्नीः न**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली पत्नियों के समान होते हैं। पत्नी सन्तान को जन्म देती है, ये तीनों देवियाँ इस इन्द्र में उत्तमताओं को जन्म देनेवाली होती हैं, उत्तम दिव्य गुणों को पैदा करती हैं। ४. इन तीनों देवियों में प्रथम देवी **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता है जोकि **अच्छिन्नं तन्तुं पयसा**=अच्छिन्न यज्ञतन्तु के—निरन्तर चलनेवाले यज्ञ के प्रकाश से युक्त है, अर्थात् ज्ञान पहली देवता है, इसके होने पर मनुष्य का जीवन यज्ञमय बनता है। ५. दूसरी देवता **इडा**=(श्रद्धेडा श० ११।२।७।२०) श्रद्धा है, जो **देवी**=मनुष्य में सब दिव्य गुणों को जन्म

देनेवाली है। ६. तीसरी देवता **भारती**=वाणी है। इस तीसरी देवता को अन्यत्र मन्त्रों में 'मही' भी कहा गया है। भारती व मही दोनों शब्द नि० १।११ में वाणी के वाचक हैं। यह वाणी तभी देवता है जबकि यह **विश्वतूर्त्तिः**=उस सर्वत्र प्रविष्ट (सर्वत्र विशति) सर्वव्यापक प्रभु में (विश्वस्मिन् त्वरया तूर्णं गच्छति) शीघ्रता से व्याप्त होती है। हम अपने कार्य से ज़रा खाली हुए और यह वाणी प्रभु के जप में लगी। हमारा सारा खाली समय वाणी द्वारा तज्जपः=उस प्रभु के नाम के जप में लगे। ऐसा होने पर यह देवता हो जाती है। यह भारती व मही बन जाती है। यह सचमुच हमारा भरण करती है और हमारे जीवन को महनीय बना देती है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान की अधिदेवता 'सरस्वती' यज्ञिय भावनाओं को जन्म देकर यज्ञ का विकास करे, 'श्रद्धा' (इडा) दिव्य गुणों को जन्म दे, तथा 'भारती' (वाणी) सदा उस प्रभु में त्वरा से गतिवाली हो, अर्थात् प्रभु के नाम का जप करनेवाली हो।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**त्वष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

भूरिरेताः

त्वष्टा दधच्छुष्मिन्द्रायं वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि।
वृषा यजन्वृषणं भूरिरेता मूर्द्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान्॥४४॥

१. यदि गतमन्त्र की भावना के अनुसार हमारी वाणी सर्वव्यापक प्रभु का जप करनेवाली बनती है तो हम उस प्रभु की कृपा से वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते और इन्द्रियों को वश में कर सकने के कारण 'इन्द्र' व परिणामतः 'वृषभ' बनते हैं, वासना से ऊपर उठकर सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले बनते हैं। इस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए, **वृष्णे**=सुखों की वर्षा करनेवाले के लिए **त्वष्टा** =वह दिव्य गुणों का निर्माता प्रभु **शुष्मम्**=शत्रुशोषक शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। इसे वह शक्ति प्राप्त कराता है, जिससे यह सब शत्रुओं को जीत पाता है। २. वह **अपाकः**=(न विद्यते अन्यः पाकः यस्मात् सः—उ०) अत्यन्त प्रशंसनीय (अनुत्तम) **अचिष्टुः**=(अञ्चनशीलः सर्वत्र गतः—म०) सर्वव्यापक प्रभु **यशसे**=इस इन्द्र के यश के लिए **पुरूणि**=पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों को इसमें आहित करता है। इन कर्मों को करता हुआ यह इन्द्र यशस्वी बनता है और ३. **वृषणम्**=सब शक्तियों का सेवन करनेवाले प्रभु की **यजन्**=पूजा व सङ्गतिकरण करता हुआ यह **वृषा**=शक्तिशाली बनता है ४. **भूरिरेताः**=भरण-पोषण करनेवाले रेतस्वाला होता है (रेतस्=वीर्य)। ५. **यज्ञस्य मूर्धन्**=सदा उत्तम कर्मों के अग्रभाग में स्थित होता है और ६. **देवान् समनक्तु**=दिव्य गुणों के साथ अपने को सङ्गत करता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से बल प्राप्त होता है। हम यशस्वी कार्यों को करनेवाले बनते हैं और हम दिव्य गुणों से अपने जीवन को समलंकृत कर पाते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**वनस्पतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वनस्पतिः

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन॥४५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित बल का धारण करनेवाला इन्द्र **वनस्पतिः**=ज्ञानरश्मियों का पति बनता है (वन=a ray of light)। २. ज्ञानी बनने के कारण ही **पाशैः**=विषयों के जालों से

अवसृष्टः न=छूटा हुआ-सा होता है। विषयों के बन्धन से यह ऊपर उठता है। विषयों के बन्धन ज्ञान की तलवार से कट जाते हैं। ३. विषय-बन्धनों को काटकर वह **त्मन्या**=(आत्मना) आत्मतत्त्व से **समञ्जन्**=सङ्गत होता है। विषयों से छूटने पर ही आत्मतत्त्व से मेल होता है। ४. आत्मतत्त्व से मेल के कारण **शमिता न**=यह अत्यन्त शान्त-सा हो जाता है और ५. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला-देव बनता है। एवं, क्रम यह है 'ज्ञान, विषयबन्धन-विनाश, आत्मसंयम, शान्ति व दिव्यता'। ६. यह शान्त स्वभाववाला देव व्यक्ति **इन्द्रस्य जठरम्**=उस प्रभु के दिये हुए इस पेट को **हव्यैः**=यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों से ही **पृणानः**=(पूरयन्) पूरित करता है। पेट को प्रभु का समझता हुआ उसे मांसादि अदिव्य-अपवित्र पदार्थों से कभी नहीं भरता। सात्त्विक भोजनों के सेवन से उसकी वृत्ति भी सात्त्विक बनती है। ७. इस प्रकार यह **यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **मधुना**=शहद से तथा **घृतेन**=घृत से **स्वदाति**=स्वादवाला-माधुर्यवाला बना देता है। वस्तुतः 'हव्य पदार्थ' ही हमारे भोजन होने चाहिएँ। घृत और शहद आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन हमारे जीवन को यज्ञरूप बना देगा।

भावार्थ-हमारे भोजन वानस्पतिक हव्य पदार्थ हों, हम मधु व घृत आदि का प्रयोग करें। इस प्रकार हमारा जीवन यज्ञरूप होगा, माधुर्यमय होगा।

ऋषिः-**आङ्गिरसः**। देवता-**स्वाहाकृतयः**। छन्दः-**त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**॥

इन्द्र तथा देव

स्तोकानामिन्दुं प्रति शूरऽइन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट्।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवाऽअमृता मादयन्ताम्॥४६॥

१. **स्तोकानाम्**=(स्तोक=कण=बिन्दु) एक-एक कण के रूप में उत्पन्न हुए-हुए **इन्दुं प्रति**=(इन्द to be powerful) शक्तिशाली बनानेवाले सोम को लक्ष्य बनाकर चलनेवाला, अर्थात् सोम के एक-एक कण का ध्यान करनेवाला यह आङ्गिरस **शूरः**=शूरवीर बनता है। २. **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों को वश में करनेवाला और इन्द्र नामवाला राजा **वृषायमाणः**=बलवान् पुरुष की भाँति आचरण करता है। **वृषभः**=शक्तिशाली होता है, प्रजाओं पर सुखों की वर्षा करता है। ३. **तुराषाट्**=(तूर्ण सहते-उ०, तुरान् हिंसकान् सहते-द०) शीघ्रता से हिंसा करनेवाले काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का पराभव करता है। ४. वस्तुतः वीर्य के कण-कण की रक्षा करनेवाला शूरवीर, जितेन्द्रिय, शक्तिशाली की भाँति आचरण करता हुआ, प्रजाओं पर सुखों का वर्षक, शत्रुओं का पराभावयिता राजा ही प्रजा की रक्षा कर पाता है-**'ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं वि रक्षति'**। विलासी राजा प्रजारक्षण में समर्थ नहीं होता। ५. इस राज्यरूप महादेव कार्य को राजा अकेला नहीं कर सकता, वह इस कार्य के लिए सात वा आठ मन्त्रियों को अपने साथ नियत करता है। राजा 'इन्द्र' है, तो ये मन्त्री 'देव' कहलाते हैं। ये देव भी **घृतप्रुषा**=(घृ=क्षरण, दीप्ति) मलक्षरण व नैर्मल्य तथा दीप्ति से सिक्त (प्रुष् to sprinkle) **मनसा**=मन से **मोदमानाः**=हर्ष का अनुभव करते हुए **मादयन्ताम्** प्रजा को आनन्दित करें। ६. कैसे देव? (क) **स्वाहा देवाः**=(स्वाहाकृतयो देवाः स्वाहादेवाः) प्रजा के हित के लिए स्व का त्याग करनेवाले देव, तथा (ख) **अमृताः**=(नास्ति मृतं मरणं येषां-म०) जो किन्हीं भी विषयों के पीछे मर नहीं रहे, अर्थात् विषयासक्त नहीं हैं। एवं, मन्त्रियों के तीन विशेषण हैं, ये नैर्मलय व दीप्ति से सिक्त मन से मोदमान हों, प्रजाहित के लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाले हों तथा विषयों के पीछे मरनेवाले न हों। इन तीन विशेषणों से विशिष्ट देव ही प्रजारक्षणरूप कार्य में राजा के उत्तम सहायक हो सकते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' राजा है, वह ब्रह्मचारी बनता है, शक्तिशाली बनकर कामादि शत्रुओं का संहार करता है। उसके मन्त्री 'देव' हैं। ये भी निर्मल मनवाले, प्रसन्नचित्त, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए, विषयों से अछूते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अभिभूति क्षत्रम्

आयात्विन्द्रोऽवसऽउप नऽइह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात्॥४७॥

१. गतमन्त्र का प्रजारक्षक, ब्रह्मचर्य व्रत का पालक **इन्द्रः**=राजा **इह**=इस राष्ट्र में **नः उप**=हमारे समीप **अवसे**=रक्षण के लिए **आयातु**=आये। २. अपने उत्तम जीवन व कर्म के कारण **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ, 'जिसकी सब प्रशंसा करते हैं', ऐसा यह राजा **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला तथा **सधमात्**=(देवैः सार्धं मादयति) देवतुल्य अपने मन्त्रियों के साथ प्रजा को आनन्दित करनेवाला **अस्तु**=हो। यह वस्तुतः प्रजारक्षण के कार्य में ही आनन्द का अनुभव करे, प्रजाओं के साथ मिलनेवाला हो, प्रजाओं के लिए अपने आराम को तिलाञ्जलि देनेवाला हो, उनके लिए अभिगम्य हो। ३. **वावृधानः**=इस प्रकार यह राष्ट्र का निरन्तर वर्धन करनेवाला हो। ४. यह राजा वह हो **यस्य**=जिसकी **तविषीः**=सेनाएँ व बल **पूर्वीः**=प्रथम श्रेणी की हैं, अर्थात् अत्यन्त उत्तम हैं। ५. यह राजा **द्यौः न**=प्रकाश की भाँति **अभिभूति क्षत्रम्**=शत्रुओं के पराभव करनेवाले बल का **पुष्यात्**=पोषण करे। उस शक्ति से सम्पन्न हो जो शक्ति शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ हो। जहाँ इसमें ज्ञान हो, वहाँ इसमें अद्भुत बल भी हो।

भावार्थ—प्रजा का रक्षण करनेवाला यह राजा अपने उत्तम कार्यों से प्रजा से स्तुत हो, शूर हो, वृद्धिशील हो, इसकी सेनाएँ भी प्रथम श्रेणी की, अर्थात् उत्तम शिक्षित हों। जहाँ यह ज्ञान के प्रकाशवाला हो, वहाँ शत्रु पराजयक्षम बल से भी सम्पन्न हो। इस प्रकार स्वयं सुन्दर दिव्य गुणोंवाला 'वामदेव' बनकर यह प्रजाओं को भी 'वामदेव' बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है (वाम=सुन्दर, देव=दिव्य गुण)।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

युद्ध व आक्रमण

आ नऽइन्द्रो दूरादा नऽआसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून्॥४८॥

१. गतमन्त्र के राजा के लिए ही कहते हैं कि यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **नः**=हमें **दूरात्**=दूर से और **नः**=हमें **आसात्**=समीप से भी **आयासत्**=आये 'दूर हो, समीप हो' कहीं भी हो, हमारी **अवसे**=रक्षा के लिए यह आये ही। २. यह स्वयं राष्ट्र में उस-उस स्थान पर पहुँचकर **अभिष्टिकृत्**=अभिलषित कार्यों का करनेवाला हो। यह राजा उचित प्रबन्ध के द्वारा वाञ्छनीय वस्तुओं को प्राप्त कराने की व्यवस्था करे तथा आवश्यक प्रबन्ध के द्वारा सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाला हो। ३. शत्रु का आक्रमण होने पर **ओजिष्ठेभिः**=ओजस्वितम, अत्यन्त बलिष्ठ सेनाओं से युक्त हुआ-हुआ, गतमन्त्र की 'पूर्वी तविषी'=प्रथम श्रेणी की सर्वोत्तम सेनाओं से युक्त हुआ-हुआ **नृपतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा **वज्रबाहुः**=वज्रयुक्त भुजावाला होकर **सङ्गे**=शत्रु के साथ मेल होने पर, अर्थात्

युद्ध में **समत्सु**=आक्रमणों के होने पर **पृतन्यून्**=शत्रुओं को (पृतनामिच्छन्ति) **तुर्वणिः**=(तुर्वति) नष्ट करनेवाला होता है। शत्रुओं का नाश करके यह प्रजा को शत्रु के आक्रमण-भय से मुक्त करता है। भयमुक्त प्रजा ही तो विविध क्षेत्रों में उन्नति कर सकती है।

भावार्थ—राजा दूर हो या समीप हो, प्रजा के रक्षण के लिए उस-उस स्थान पर पहुँचे। प्रजा की अभिलाषाओं को सिद्ध करनेवाला हो। शत्रुओं का आक्रमण होने पर शक्तिशाली सैन्यों के साथ स्वयं अस्त्र-शस्त्र धारण करके शत्रु का संहार करे।

सूचना—'संग और समत्' निघण्टु में दोनों ही संग्राम के नाम हैं। एकवचन में होता हुआ 'संग' युद्ध (war) है और बहुवचन में वर्त्तमान समद् शब्द आक्रमणों (Battles) का वाचक है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वज्री, मघवा, विरप्शी

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ॥४९॥

१. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा मुख्य सेनाधीश के रूप में **हरिभिः**=सुशिक्षित अश्वों के साथ **नः अच्छ**=हमारी ओर **आयातु**=प्राप्त हो। २. यह राजा **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **च**=तथा **राधसे**=धनादि की सिद्धि के लिए **अर्वाचीनः**=शत्रु के सम्मुख जानेवाला हो। शत्रु पर आक्रमण करके उसे पराजित करनेवाला हो। ३. यह **वज्री**=उत्तम वज्रवाला **मघवा**=परमपूजित धन से युक्त **विरप्शी**=महान् अथवा (विविधं रपति) विविध आदेशों का देनेवाला राजा **नः इमं यज्ञं अनु**=हमारे इस राष्ट्रयज्ञ का लक्ष्य करके **वाजसातौ तिष्ठाति**=संग्राम में स्थित होता है। युद्ध में कभी कायरता से भाग नहीं खड़ा होता। संग्राम में विजय प्राप्त करके यह अन्न के संविभाग में स्थित होता है। सब प्रजाओं को जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कराने की व्यवस्था करता है।

भावार्थ—राजा के कर्तव्य हैं कि सेना के अङ्गभूत घोड़े आदि को सुशिक्षित करे। अवसर आने पर शत्रु पर आक्रमण करे। प्रजा का रक्षण करे, उसे उचित धन प्राप्त कराए। युद्ध में शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर उपस्थित हो।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

राष्ट्र-रक्षा व प्रजा-कल्याण

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳहवेहवे सुहवꣳशूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳस्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥५०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'गर्ग' है, जो (गिरति) शत्रुओं को निगल जाता है। राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को समाप्त करके राष्ट्र के **त्रातारम्**=रक्षक **इन्द्रम्**=शत्रुओं के मार भगानेवाले राजा को और अतएव **अवितारम्**=(अव प्रीणने) प्रजा का प्रीणित करनेवाले **इन्द्रम्**=राजा को २. **हवेहवे**=प्रत्येक संग्राम में **सुहवम्**=सुगमता से बुलाये जानेवाले, **शूरम्**=शत्रुओं की हिंसा करनेवाले (शृ हिंसायाम्) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठता, जितेन्द्रिय राजा को ३. जितेन्द्रियता के कारण ही **शक्रम्**=(शक्नोति इति शक्रः) राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ, **पुरुहूतम्**=बहुत-से पुकारे गये, सत्कार किये गये **इन्द्रम्**=इस परमैश्वर्यशाली राजा को **ह्वयामि**=इस सिंहासन पर बैठने व बैठकर राज्य करने के लिए

पुकारता हूँ। ४. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक, इन्द्रियों का अधिष्ठाता **मघवा**=पापशून्य ऐश्वर्यवाला, कर आदि से प्राप्त उचित धन को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्ययित करनेवाला और अतएव **मघवा**=मघवान् कहलानेवाला यह राजा **नः**=हममें **स्वस्ति**=कल्याण को **धातु**=स्थापित करे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र की उत्तमता से रक्षा करे और प्रजा के कल्याण की साधना करे।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

निर्द्वेषता व निर्भयता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ२॥ऽअवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषोऽअभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥५१॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला और इस प्रकार **सुत्रामा**=बहुत उत्तमता से राष्ट्र की रक्षा करनेवाला २. **स्ववान्**=आत्मतत्त्ववाला, अर्थात् आत्मप्रवण, भोगवृत्ति से दूर रहनेवाला यह राजा **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **सुमृडीकः**=(मृड सुखने) प्रजा को अत्यन्त सुखी करनेवाला **भवतु**=हो। ३. प्रजा को सुखी करने के उद्देश्य से ही यह **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण प्रजाजनों को जाननेवाला हो। राजा लोग 'चारचक्षु' होते हैं। गुप्तचरों के द्वारा और स्वयं भी छद्मवेश में प्रजा में विचरण करते हुए ये प्रजा की ठीक स्थिति को जानें। इसे जाने बिना ठीक प्रकार प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। ४. **द्वेषः बाधताम्**=राजा द्वेष को दूर करे। प्रजावर्ग में परस्पर द्वेष को उत्पन्न न होने दे। ५. परस्पर द्वेष होने पर दिलों में भय बना रहता है। द्वेष को दूर करके राजा **अभयं कृणोतु**=निर्भयता करे। वस्तुतः निर्भयता दिव्य गुणों में प्रथम है। इसके होने पर अन्य दैवी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव होता है। ६. राजा राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि हम सब प्रजावर्ग **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य के, शक्ति के **पतयः**=स्वामी व रक्षक **स्याम**=हों।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा इस बात का पूरा ध्यान करे कि प्रजा में धर्म, जाति व बिरादरी आदि किसी भी आधार को लेकर परस्पर द्वेष व लड़ाई की भावना उत्पन्न न हो। राष्ट्र में पारस्परिक द्वेष से दिलों में डर (दहशत) न बना रहे।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुमति—सौमनस्

तस्य वयꣳ सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ२ऽइन्द्रोऽअस्मेऽआराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥५२॥

१. **वयम्**=हम **तस्य**=ऊपर के मन्त्रों में वर्णित **यज्ञियस्य**=पूजा के योग्य राजा की **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे**=कल्याणकर **सौमनसे**=सौमनस्य में, अर्थात् मन के उत्तम व्यवहार में **स्याम**=हों, अर्थात् हमारे शासन करनेवाले इस राजा की मति सदा उत्तम बनी रहे और इसके मन के भाव सदा उत्तम बने रहें। इसके मस्तिष्क में सदा उत्तम विचार हों, मन में सदा उत्तम भाव हों। इस प्रकार इस राजा का उत्तम मस्तिष्क व उत्तम मन प्रजा के जीवन को उत्तम बनाने के साधनों का सदा विचार करता रहे। २. **सः**=वही राजा **सुत्रामा**=प्रजा का उत्तमता से त्राण करता है। **स्ववान्**=प्रशस्त आत्मावाला होता है। ३. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **अस्मे**=हमसे **आरात्**=दूर **चित्**=ही **द्वेषः**=द्वेष को **सनुतः**=सदा **युयोतु**=पृथक् करे।

भावार्थ—राजा सुमति व सौमनसवाला हो। वह हमसे द्वेष को दूर करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

मयूररोम, मन्द्र, 'हरि'

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ२॥ऽइहि॥५३॥

१. पिछले मन्त्र में शत्रुओं को समाप्त कर देनेवाले 'गर्ग' (निगल जानेवाले) राजा का उल्लेख था। जब यह राजा उत्तम व्यवस्था के द्वारा प्रजा में से द्वेष को दूर कर देता है और सब प्रजाएँ परस्पर प्रेमवाली व 'अभय' हो जाती हैं तब वे प्रस्तुत मन्त्र की ऋषि 'विश्वामित्र'—सबके साथ स्नेह करनेवाली बन जाती हैं। इस विश्वामित्र से प्रभु कहते हैं—हे **इन्द्र**=द्वेषादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! तू इन **हरिभिः**=शरीररूप रथ में जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़ों से **आयाहि**=हमारे समीप आ। २. कैसे घोड़ों से? **मन्द्रैः**=जो सदा प्रसन्न हैं तथा **मयूररोमभिः**=(मिनाति द्वेषादिकम्) द्वेषादि को अपने से पृथक् रखते हैं अथवा 'मय गतौ' गतिशील हैं तथा 'रु शब्दे' उस प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाले हैं, अर्थात् क्रियामय हैं, प्रभु का स्मरणवाले हैं। हाथों में क्रिया, मन में प्रभु का विचार। ३. इस प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशीलता में **त्वा**=तुझे **चित्**=कोई भी विषय **मा नियमन्**=न रोके, अर्थात् संसार के विषय तुझे बाँध न लें। इन्होंने बाँधा और तेरी गति रुकी। **न**=जैसे **विम्**=पक्षी को **पाशिनः**=पाशहस्तशिकारी बाँध लेते हैं, उसी प्रकार यह प्रकृति विषयरूप जालों में कहीं तुझे बाँध न ले। यह प्रकृति इतनी चमकीली व आकर्षक है कि इसके अन्दर न बँधना अत्यन्त कठिन है। प्रभुकृपा ही मनुष्य को इस बन्धन से बचाती है। ४. तू इन विषयों को **धन्वा इव**=मरुस्थलों की भाँति **अति इहि**=लाँघ जा। मरुस्थल में मरीचिका के दृश्य मृग को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, परन्तु उसकी प्यास को बुझाते तो नहीं। इसी प्रकार ये विषय मरुस्थल हैं। इनसे तेरा कल्याण न होगा। तू इनमें फँसा रहेगा और सुख को प्राप्त न कर सकेगा। इन विषयों को पार करके ही तू मेरे समीप पहुँचेगा और यात्रा को पूरा कर सकेगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप घोड़े 'सदा प्रसन्न, गतिशील व प्रभु का स्मरण करनेवाले' हों तभी हम जीवनयात्रा में किन्हीं भी विषयों से बद्ध न होकर प्रभु को पानेवाले होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वीरवत् गोमत्

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासोऽअभ्यर्चन्त्यर्कैः।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥५४॥

१. **एव इत्**=गतमन्त्रों के अनुसार निश्चय से **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **वृषणम्**=प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले शक्तिशाली **वज्रबाहुम्**=प्रजा की रक्षा के लिए हाथ में वज्र लिये हुए अथवा क्रियाशील राजा को **वसिष्ठासः**=राष्ट्र में उत्तम निवासवाले प्रजाजन **अर्कैः**=स्तोत्रों से **अभ्यर्चन्ति**=पूजते हैं, सत्कृत करते हैं। 'अर्क' शब्द का अर्थ 'अन्न' भी है। अपने धान्यों में से छठा या ८वाँ भाग देकर राजा का उचित मान करते हैं। स्पष्ट है कि राजा का कर्त्तव्य जहाँ प्रजा की रक्षा करना है, वहाँ सुरक्षित प्रजाओं का भी यह कर्त्तव्य है कि राजा को अपने धान्यों का निश्चित अंश कररूप में अवश्य दे। २. इस

प्रकार प्रजा से **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ **सः**=वह राजा **नः**=हमारे लिए **वीरवत्**=उत्तम वीरोंवाले तथा **गोमत्**=प्रशस्त गौवोंवाले राष्ट्र का **धातु**=धारण करे, अर्थात् राजा राष्ट्र की ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में सब पुरुष वीर हों। रोगादि के कारण व अन्नाभाव के कारण राष्ट्र में लोग क्षीणशक्ति न हो जाएँ। इसी दृष्टिकोण से राजा यह व्यवस्था भी करे कि राष्ट्र में गौवें खूब हों। प्रत्येक घर में गौ के लिए स्थान हो। वैदिक आदर्श के अनुसार आदर्श घर वही है जहाँ **'आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः'**=सायंकाल कूदती-फाँदती गौवें आती हैं। गौवें होंगी तो हमारी सन्तानें भी वीर होंगी। एवं, एक-एक घर 'गोमत्-वीरवत्' बनेगा और सारा राष्ट्र बड़ा सुन्दर हो जाएगा। इस सुन्दर राष्ट्र में उत्तम निवासवाले ये व्यक्ति 'वसिष्ठ' होंगे। ३. ये वसिष्ठ राजा (इन्द्र) के मन्त्री आदि कर्मचारी वर्ग (देवों) को कहते हैं कि **यूयम्**=तुम सब **स्वस्तिभिः**=उत्तम स्थितियों के द्वारा **नः**=हमारी **पात**=रक्षा करो। सब मन्त्रिवर्ग राष्ट्र का कार्य इस उत्तमता से करें कि प्रजा के सब लोगों की स्थिति उत्तम हो।

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा करे। प्रजा राजा को अन्नभाग दे। प्रशंसित राजा हमारे राष्ट्र को वीरोंवाला तथा गौवोंवाला बनाये। सब मन्त्री आदि राष्ट्र की स्थिति को उत्तम बनाने का ध्यान करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आदर्श गृह

समिद्धोऽअग्निरश्विना तप्तो घर्मो विराट् सुतः।

दुहे धेनुः सरस्वती सोमꣳशुक्रमिहेन्द्रियम्॥५५॥

१. हे **अश्विनौ**=गुणों व कर्मों में व्याप्त होनेवाले स्त्री-पुरुषो! घर को अच्छा बनाने के लिए इस बात का ध्यान करो कि २. **अग्निः समिद्धः**=आपके घर में अग्नि में समिधा डाली गई हैं और अग्निहोत्र सम्यक्तया सम्पादित हुआ है। अग्निहोत्र घर में सब व्यक्तियों को सौमनस्य देनेवाला होता है। ३. दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि **तप्तः**=(तप्तं अस्यास्तीति)=घर में सब व्यक्ति तपस्वी हों। जीवन में तप मनुष्य का पतन नहीं होने देता। ४. तप के परिणामस्वरूप **घर्मः**=सब गृहसभ्यों में प्राणों की उष्णता हो (घर्म=गर्म) तपस्या से यह प्राणों की उष्णता भी बनी रहती है। ५. **विराट्**=प्रत्येक व्यक्ति प्राणों की उष्णता को स्थिर रखता हुआ ज्ञान की ज्योति से चमकनेवाला हो। ६. **सुतः**=(सुतं अस्यास्तीति) यह उत्पादनवाला—अर्थात् यह सदा निर्माण के कार्यों में लगनेवाला हो। ७. **धेनुः दुहे**=प्रत्येक गृहपति यह कह सके कि मेरे घर में गौ दुही जाती है या दूध देने से गौ सबका पूरण करती है। ८. गौ ही नहीं, **सरस्वती दुहे**=यहाँ ज्ञान की अधिदेवता भी सबका पूरण करती है, अर्थात् इस घर में सब ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और ९. इसी का परिणाम है कि **इह**=इस घर में **सोमम्**=सौम्यता—विनीतता व शान्ति है, **शुक्रम्**=वीर्यशक्ति है और **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय का बल अथवा धन है।

भावार्थ—आदर्श घर में पति-पत्नी सदा कर्मव्यापृत रहते हैं, घर में अग्निहोत्र होता है, तपस्या, प्राणशक्ति, ज्ञानदीप्ति व निर्माणात्मक कार्य वहाँ विद्यमान होते हैं। गौवों और ज्ञान का दोहन होता है। अन्त में सौम्यता के साथ वहाँ वीरता होती है तथा सब इन्द्रियाँ ठीक स्थिति में होती हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अश्विना-सरस्वती

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरस्वती।
मध्वा रजांऽसीन्द्रियमिन्द्राय पथिभिर्वहान्॥५६॥

१. गतमन्त्र के 'विदर्भि' के जीवन में **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान **तनूपा**=शरीर की रक्षा करनेवाले होते हैं और **भिषजा**=वे सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले होते हैं। इनके शरीर में प्रथम तो रोग उत्पन्न ही नहीं होते, उत्पन्न हो भी जाते हैं तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। उत्पन्न हुए-हुए सोम को प्राणापान शरीर में व्याप्त करते हैं और इस प्रकार उस-उस अङ्ग को सबल बनाकर उसे रोगों का घर नहीं बनने देते। २. इसके जीवन में **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता, अर्थात् ज्ञान **मध्वा**=माधुर्य के साथ **रजांसि**='रजःकर्मणि भारत', 'रजरुवर्थ उच्यते'=कर्मों को व अर्थों को धारण करता है। यह प्राणसाधन द्वारा सुरक्षित सोमवाला पुरुष ज्ञानाग्नि के दीप्त होने पर (क) 'बड़े माधुर्यपूर्ण व्यवहारवाला' होता है। (ख) सदा उत्तम कर्मों में लगा रहता है। (ग) इन उत्तम कर्मों के द्वारा यह अर्थ का उपार्जन करनेवाला बनता है। ३. इस प्रकार ये प्राणापान तथा ज्ञान (क्षत्र+ब्रह्म) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पथिभिः**=उत्तम मार्गों से **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा धन को (इन्द्रियं धनम्) **वहान्**=प्राप्त कराते हैं। गो० ३।२।२। में इन धनों का उल्लेख इस रूप में है—'जायमानो ह वै ब्राह्मणः सप्तेन्द्रियाण्यभि जायते ब्रह्मवर्चसं यशश्च स्वप्नं च क्रोधं च श्लाघां च रूपं च पुण्यगन्धं सप्तमम्', अर्थात् प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि विदर्भि के जीवन में ब्रह्मवर्चस् होता है, वह यशस्वी बनता है, चिन्ता से ऊपर उठे होने से वह ठीक से सोता है, पाप के प्रति वह क्रोध कर पाता है, लोगों की दृष्टि में वह सदा श्लाघा के योग्य जीवनवाला होता है, सुन्दर रूपवाला होता है और उत्तम ज्ञानवाला होता है।

भावार्थ—एक आदर्श जीवनवाले पुरुष के शरीर में प्राणापान होते हैं और विद्याभ्यास से बढ़ा हुआ ज्ञान उसे मधुर व शक्तिसम्पन्न बनाता है। यह सुमार्ग से उत्तम धनों का अर्जन करता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मधु भेषजम्

इन्द्रायेन्दुꣳसरस्वती नराशꣳसेन नग्नहुम्।
अधातामश्विना मधु भेषजं भिषजा सुते॥५७॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्दुम्**=सोम को, (इन्द् to be powerful या इन्द् परमैश्वर्य) शक्ति व ज्ञानरूप परमैश्वर्य के कारणभूत इस सोम को धारण करती है। सोम को यहाँ इन्दु कहा गया है, चूँकि यह सोम शक्ति व परमैश्वर्य का कारण बनता है। मनुष्य जब ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर चलता है तब यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। २. यह सरस्वती ही इस इन्द्र को **नराशंसेन**=(नरै आशंसनीयेन) मनुष्यों से चाहनेयोग्य इस यज्ञ से **नग्नहुम्**=(नग्नः सन् जुहोति) अपनी आवश्यकताओं को कम करके आहुति देनेवाला, दान देनेवाला बनाती है। ज्ञान से मनुष्य भौतिक वृत्तियों से ऊपर उठता हुआ खूब देने की वृत्तिवाला बनता है। ३.

इस इन्द्र के लिए ही **भिषजा अश्विना**=रोगों के चिकित्सक प्राणापान **सुते**=शरीर में सोम का उत्पादन होने पर **मधु भेषजम्**=अत्यन्त माधुर्यमय औषध को **अधाताम्**=धारण करते हैं। अथवा इस **मधु**=शहदरूप औषध को धारण करते हैं, अर्थात् प्राणापान की शक्ति के साथ इस मधु का मात्रा में प्रयोग इनके लिए सर्वोत्तम औषध हो जाता है। शहद की सामान्यतः मात्रा गर्मियों में १८ ग्राम व सर्दियों में ३० ग्राम हो सकती है।

भावार्थ—१. ज्ञान का उपासक पुरुष सोम की रक्षा के द्वारा शक्तिसम्पन्न बनता है। २. यज्ञियवृत्ति को धारण कर, अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ाकर, दान देता है ३. प्राणापान इसके वैद्य बनते हैं, ४. मात्रा में किया गया मधु का प्रयोग इनके लिए सर्वोत्तम औषध बन जाता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इष-ऊर्ज-रयि

आ॒जुह्वा॑ना॒ सर॑स्व॒तीन्द्रा॑येन्द्रि॒याणि॑ वी॒र्य॑म्।
इडा॑भिर॒श्विना॒विष॒ꣳसमू॑र्ज॒ꣳस॒ꣳर॒यिं द॑धुः॥५८॥

१. **आजुह्वाना**=(आह्वयन्ती) प्रभु का आह्वान (पुकार) करती हुई **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियशक्तियों को अथवा ५६वें मन्त्र की व्याख्या में प्रदर्शित सात धनों को तथा **वीर्यम्**=वीर्य को धारण करती है। ज्ञान और प्रभु-उपासना के मिल जाने पर मानव जीवन में सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं, सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करके यह वीर्यवान् बनता है। २. **इडाभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अश्विना**=प्राणापान **इषं सन्दधुः**=सम्यक्तया प्रेरणा प्राप्त कराते हैं **ऊर्जम्**=उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए इसमें बल व प्राणशक्ति का आह्वान करते हैं और **रयिम्**=प्रेरणानुसार कार्य कर सकने के लिए उचित धन का **सन्दधुः**=सम्यक्तया धारण करते हैं। ३. 'इडाभिः' शब्द का अर्थ 'श्रद्धा की भावनाओं से' भी होता है। प्राणापान श्रद्धा की भावनाओं के होने पर, इसे प्रेरणाशक्ति व धन' प्राप्त कराते हैं। ४. प्रस्तुत मन्त्र में सरस्वती का विशेषण 'आजुह्वाना' ज्ञान के साथ उपासना को जोड़ रहा है तथा अश्विना के साथ 'इडाभिः' यह पद बल के साथ श्रद्धा के मेल का विधान कर रहा है। बल के साथ श्रद्धा होने पर ही प्रेरणाशक्ति व धन का लाभ है। एवं, ज्ञान व बल दोनों के साथ श्रद्धा व उपासना का होना आवश्यक है।

भावार्थ—हमारी सरस्वती प्रभु को पुकारती हुई हो, ज्ञान उपासना से जुड़ा हो तथा हमारी प्राणाशक्ति के साथ श्रद्धा का मेल हो। हम उन्नत शक्तिवाले बनें, श्रद्धा से युक्त हों।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नमुचि का सोम

अ॒श्विना॒ नमु॑चेः सु॒तꣳसोम॑ꣳशु॒क्रं प॑रि॒स्रुता॑।
सर॑स्वती॒ तमा भ॑रद् ब॒र्हिषेन्द्रा॑य पात॒वे॥५९॥

१. **अश्विना**=ये प्राणापान **नमुचेः**=(न+मुचि) न परित्याग करनेवाले के, अर्थात् अपव्यय न करनेवाले के **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमम्**=सोम को **परिस्रुता**=शरीर में चारों ओर स्रुत व व्याप्त करनेवाले होते हैं। शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम **शुक्रम्**=उनके जीवन को (शुक् दीप्तौ) दीप्त बनानेवाला होता है और (शुक् गतौ) उन्हें क्रियाशील

बनाता है। (क) यहाँ 'नमुचि' शब्द अभिमानरूप आसुर भावना के लिए न आकर उस पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है जो व्यर्थ के भोगविलास में वीर्य का परित्याग नहीं करता। (ख) इस पुरुष के वीर्य को प्राणापान ऊर्ध्वगति देकर सारे शरीर में व्याप्त कर देते हैं। (ग) शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम उस पुरुष के जीवन को उज्ज्वल बनाता है, और उसे खूब क्रियाशील बने रहने की क्षमता प्राप्त कराता है। २. अब **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **तम्**=उस शरीर में व्याप्त किये गये सोम को **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ व इस निर्वासन हृदय के द्वारा **इन्द्राय**=इन्द्र के लिए **आभरत्**=धारण करती है **पातवे**=जिससे वह अपना रक्षण कर सके। ज्ञान में लगा हुआ पुरुष इस सोम का शरीर में बड़ा सुन्दर सद्व्यय कर पाता है। इस प्रकार शरीर में ही व्ययित हुआ-हुआ सोम उसका संरक्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना से सोम का शरीर में ही व्यापन करें, वहाँ यह ज्ञानाग्नि के ईंधन के रूप में व्ययित हो और इस प्रकार यह सोम उस सोमपान करनेवाले की रोगों से रक्षा करनेवाला बने।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

विस्तृत द्वार

कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशः।
इन्द्रो न रोदसीऽउभे दुहे कामान्त्सरस्वती ॥६०॥

१. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा, अर्थात् प्राणापान की साधना से **दुरः**=शरीर के 'मुख+पायुः+उपस्थ+ब्रह्मरन्ध्र'रूपी चारों द्वार **कवष्यः**=(कूयन्ते स्तूयन्ते) बड़े स्तुत्य हों। 'कवष्यः' शब्द का अर्थ ढाल भी है। ये द्वार मनुष्य के लिए ढाल का काम करें। उसे शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाले हों। मुख व पायु के ठीक कार्य करने पर मनुष्य रोगों से बचा रहता है, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र के ठीक कार्य करने पर मनुष्य अध्यात्म दृष्टि से उन्नत होता है और वासनाओं का शिकार नहीं होता। २. **न**=और ये द्वार (समुच्चयार्थीयो नकारः—उ०) **व्यचस्वतीः**=(व्याप्तिमत्यः—द०) व्याप्ति व विस्तारवाले हों। ये अपने-अपने कार्य को करने की विस्तृत शक्तिवाले हों। ३. **न**=और ये द्वार **दिशः**=(दिश् to direct) जीवन को बड़ा सुव्यवस्थित करनेवाले हों। ४. **न**=और इन उत्तम द्वारोंवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक का—मस्तिष्क व शरीर का **दुहे**=प्रपूरण करे। इनकी कमियों को दूर करके इनमें क्रमशः ज्ञान व शक्ति को भरे तथा ५. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **कामान् दुहे**=सब इष्ट कामनाओं को पूरण करे। ज्ञान से हमारी कामनाएँ पवित्र तो हों ही, उन कामनाओं का हम पूरण भी कर सकें।

भावार्थ—'मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र'रूपी चारों द्वारा स्तुत्य व विस्तारवाले हों। ये हमारे जीवनों को बड़ा व्यवस्थित करनेवाले हों। हम शरीर व मस्तिष्क दोनों का उचित पूरण करें तथा ज्ञान द्वारा सब इष्ट कामनाओं को सिद्ध करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

शक्ति व सौन्दर्य

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रꣳसायमिन्द्रियैः।
संजानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥६१॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के विजेता पुरुष को **उषासानक्तम्**=उषःकाल में तथा रात्रि में, अर्थात् रात्रि के आरम्भ से रात्रि के अन्त तक तथा **दिवा-सायम्**=दिन के प्रारम्भ से दिन के अन्त, अर्थात् सायंकाल तक **इन्द्रियैः**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति से अथवा इन्द्रियों के धनों से **समञ्जाते**=अलंकृत करते हैं। प्राणापान की साधना होने पर इन्द्रियाँ सदा सशक्त बनी रहती हैं। २. ये ही प्राणापान **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से, अर्थात् ज्ञान से **संजानाने**=संज्ञान व ऐकमत्यवाले होकर **सुपेशसा**=(पेशस्=Shape आकृति) उत्तम रूप से, सौन्दर्य से, **समञ्जाते**=सुभूषित करते हैं। प्राणापान के साथ ज्ञान के मिल जाने पर सारा जीवन सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—प्राणापान तथा ज्ञान से हमें इन्द्रियों की शक्ति व सौन्दर्य प्राप्त हो। क्षत्र व ब्रह्म दोनों सङ्गत होकर हमारे जीवन को सुन्दर-ही-सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दैव्या होता

पातं नोऽअश्विना दिवा पाहि नक्तꣳसरस्वति।
दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रꣳसचासुते॥६२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **दिवा**=दिन में **नः**=हमारी **पातम्**=रक्षा कीजिए, अर्थात् आपकी कृपा से दिन में हम अपने व्यवहारों को शक्तिपूर्वक करते चलें। आपके कारण हम अनथक बने रहें, थककर लेट न जाएँ। 'दिवा' शब्द 'दिव्=व्यवहारे' धातु से बनकर स्पष्ट संकेत कर रहा है कि यह सोने के लिए नहीं है, यह तो उचित व्यवहारों को निरन्तर करने के लिए है। २. हे **सरस्वति**=ज्ञानाधिदेवते! **नक्तम्**=रात्रि में **पाहि**=हमारी रक्षा कीजिए। जब कभी हमें जीवन में अन्धकार-सा दृष्टिगोचर हो तब आप हमें प्रकाश देनेवाली हों। आपकी कृपा से हम उलझें नहीं, उदास न हों। हमारे जीवन में अज्ञानान्धकार की रात्रि न आये। ३. हे **दैव्या होतारा**=(प्राणापानौ वै दैव्यौ होतारौ—ऐ० ३।४) प्राणापानो! आप दानपूर्वक अदन करनेवाले हो, अतएव **देव्यौ**=उस देव को प्राप्त करानेवाले हो अथवा हमारे अन्दर दिव्य गुणों की वृद्धि करनेवाले हो। **भिषजा**=आप तो हमारे सब रोगों के चिकित्सक हो। आप तो **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **सचा**=मिलकर **पातम्**=रक्षित करते हो। प्राणापान की क्रिया जब परस्पर मिलकर ठीक प्रकार से चलती है तब ये (क) वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हैं, (ख) स्वयं न खाते हुए सब इन्द्रियों को सशक्त बनाने के लिए भोजन का पाचन करते हैं, (ग) हमारे अन्दर दिव्य गुणों का विकास करते हैं और उस देवाधिदेव परमात्मा से हमें मिलाते हैं, (घ) हमें पूर्ण नीरोग बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान हमारी दिन-रात रक्षा करते हैं। सरस्वती हमारे अन्धकार को दूर करती है। इन सबकी कृपा से हम नीरोग बन व दिव्य गुणों को प्राप्त कर देव=परमात्मा को पानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तीव्रम् मदम्

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा।
तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम्॥६३॥

१. **तिस्रः**=तीनों **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता, **भारती**=वाणी तथा **इडा**=श्रद्धा **त्रेधा** =जो तीन प्रकार से अवस्थित हैं, 'सरस्वती' द्युलोक में, 'इडा' (श्रद्धा) अन्तरिक्षलोक में तथा 'भारती' इस पृथिवीलोक में, इन तीन देवियों के साथ **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **परिस्रुता**=(परिता स्रवणेन) शरीर में व्यापन के द्वारा **तीव्रम्**=बुद्धि की तीव्रता के सम्पादन करनेवाले (पटुत्वकरम्–उ०) तथा **मदम्**=हृदयान्तरिक्ष में उल्लास को पैदा करनेवाले **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **सुषुवुः**=पैदा करते हैं। २. अन्न के सेवन से शरीर में रसादि के क्रम से सोम की उत्पत्ति होती है। यह सोम शरीर में ही व्याप्त रहे, शरीर का ही अङ्ग बन जाए, इसके लिए आवश्यक है कि हम (क) स्वाध्याय की वृत्ति को अपनाएँ, सरस्वती की आराधना करें, (ख) प्राणापान की साधना करें, प्राणायाम के अभ्यासी हों (अश्विना), (ग) वाणी को नियन्त्रित रक्खें। यह औरों का भरण-पोषण करनेवाली हो, उत्साहवर्धक, प्रशंसात्मक शब्द ही बोले। कभी क्रोधभरे शब्द न निकाले। ब्रह्मचारी के लिए क्रोध वर्जित है, (घ) हम श्रद्धायुक्त मनवाले हों। हमारा श्रद्धासम्पन्न हृदय सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला हो। वह वासनाओं का क्षेत्र न बने। ३. इस प्रकार 'स्वाध्याय, प्राणसाधना, क्रोधशून्य मधुर वाणी व श्रद्धा' इन साधनों से सोम के शरीर में ही व्याप्त होने पर मनुष्य (क) तीव्र बुद्धि बनता है (तीव्रम्), (ख) उसका जीवन उल्लासमय होता है (मदम्), (ग) इन दो लाभों के अतिरिक्त उसका शरीर भी बड़ा स्वस्थ बनता है। इसी स्वास्थ्य के वर्णन से अग्रिम मन्त्र का प्रारम्भ होगा।

भावार्थ–सोम मनुष्य को तीव्र बुद्धि व उल्लासमय जीवनवाला बनाता है। 'यह शरीर में ही सुरक्षित रहे', इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्यायशील हों, प्राणापान के अभ्यासी हों, वही वाणी बोलें जो क्रोधशून्य हो तथा हृदय में श्रद्धा की भावना से ओत-प्रोत हों।

ऋषिः–**विदर्भिः**। देवता–**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः–**अनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**॥

यशः–श्रीः रूपम्

अश्विना भेषजं मधु भेषजं नः सरस्वती।
इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियꣳरूपꣳरूपमधुः सुते॥६४॥

१. गतमन्त्र में सोम के शरीर में परिस्रुत होने पर बुद्धि की तीव्रता व हृदय में उल्लास होने का उल्लेख किया था। प्रस्तुत मन्त्र में इस सोम की रक्षा से शरीर में सब प्रकार की नीरोगता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **अश्विना**=ये प्राणापान उस सोम को शरीर में ही व्याप्त करते हैं और इस प्रकार **मधु भेषजम्**=अत्यन्त माधुर्यमय औषध बन जाते हैं। शरीर में कोई रोग नहीं आता, आता भी है तो ये प्राणापान उसकी शीघ्र ही चिकित्सा कर देते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता भी **नः**=हमारे लिए **भेषजम्**=कितनी सुन्दर औषध बनती है। यह हमें उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त कराती है जो हमें इस संसार में होनेवाले ईर्ष्या-द्वेष व पारस्परिक कलहों में नहीं फँसने देता। ३. इस स्थिति में जबकि प्राणापान शारीरिक रोगों के लिए औषध बनते हैं तथा सरस्वती की आराधना मानस रोगों को दूर करनेवाली होती है तब इस **इन्द्रे** =सब रोगादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले पुरुष में **त्वष्टा**=देवशिल्पी, हमारे जीवनों में दिव्यता का निर्माण करनेवाला प्रभु **यशः**=यश को **अधुः**=स्थापित करता है। ४. यह प्रभु, अश्विनीदेव तथा सरस्वती **श्रियम्**=श्री को, शोभा को तथा **रूपंरूपम्**=प्रत्येक अङ्ग में सौन्दर्य को **अधुः** =स्थापित करते हैं, परन्तु

यह सब होता तभी है जब **सुते**=सोम का उत्पादन होता है।

भावार्थ—प्राणापान तथा ज्ञान हमारे रोगों के औषध होते हैं। प्रभुकृपा से हमारा जीवन यश, श्री व रूपसम्पन्न होता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्रः

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता।
कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती॥६५॥

१. 'पिछले मन्त्र के अनुसार अपने में सोम का उत्पादन करनेवाला इन्द्र कैसा बनता है', इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार करते हैं—**ऋतुथा**=वह ऋतु के अनुसार चलता है, ऋतु के अनुकूल अपना आहार-विहार रखता है। २. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता व जितेन्द्रिय बनता है। ३. **वनस्पतिः**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनता है। ४. **शशमानः**=तीव्र गतिवाला होता है, किसी कर्म में आलस्य नहीं करता और ५. इसके जीवन में **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साथ **परिस्रुता**=शरीर में सोम के परितः स्रवण=(व्यापन) के द्वारा **कीलालम्**=बन्धन को, उस परमात्मा के साथ सम्बन्ध को तथा **मधु**=माधुर्य को **दुहे**=प्रपूरित करती है। इस प्रकार इसके लिए यह सरस्वती **धेनुः**=आप्यायन करनेवाली होती है। इसकी सब शक्तियों के वर्धन का कारण बनती है। ६. इन्द्र वह है जो समयानुसार कार्य करता है, ज्ञानरश्मियोंवाला होता है तथा द्रुत गतिवाला होता है, कार्यों में कभी आलस्य नहीं करता। ७. प्राणापान की साधना तथा स्वाध्याय इसे व्रतों के बन्धन में बाँधकर प्रभु के मार्ग पर ले-चलते हैं। इसके जीवन में माधुर्य का कारण बनते हैं। सरस्वती की आराधना इसके आप्यायन का कारण बनती है। ८. ऊपर की सब बातें तभी हैं जब सोम का शरीर में ही परितः स्रवण व व्यापन हो।

भावार्थ—सोमी ऋतु के अनुसार आचरण करता है, जितेन्द्रिय बनता है, ज्ञानी व तीव्र गतिवाला होता है, प्राणापान की साधना से परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सुतं-मधु

गोभिर्न सोममश्विना मासरेण परिस्रुता।
समधातꣳसरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु॥६६॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **गोभिः न**=(नश्चार्थे—म०) ज्ञानेन्द्रियों के साथ अथवा ज्ञान की वाणियों के साथ **सोमम्**=सोम को **समधातम्**=धारण करते हैं। २. **परिस्रुता**=सोम के परितः-स्रवण व व्यापन के साथ **मासरेण**=(मासेषु रमणं) प्रत्येक मास में रमण के साथ सोम को धारण करते हैं, अर्थात् शरीर में सोम का व्यापन होने पर सारे महीने व सारी ऋतुएँ अच्छी-ही-अच्छी लगती हैं। ३. **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **सुतम्**=सोम को तथा **मधु**=माधुर्य को धारण करती है। ४. यदि हम चाहते हैं कि (क) हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक बनी रहें, हमें ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त हों (गोभिः), (ख) हमें सब मास अच्छे-ही-अच्छे लगें (मासरेण), (ग) हमारी सब क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए हों (मधु) तो आवश्यक है कि हम प्राणापान की साधना करें (अश्विना), स्वाध्यायशील हों (सरस्वती), हममें स्वार्थत्याग की भावना हो (स्वाहा)।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने जीवन को ज्ञानसम्पन्न, प्रसन्नता से युक्त मनवाला तथा माधुर्यमय बनाएँ।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हवि-इन्द्रिय-शुक्र-वसु-मघ

अश्विना हविरिन्द्रियं नमुचेर्धिया सरस्वती।
आ शुक्रमासुराद्वसु मघमिन्द्राय जभ्रिरे॥६७॥

१. **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नमुचेः**=(न-मुचि, धर्ममत्यजत) धर्म को, अपने धारणात्मक कर्म को न छोड़नेवाले प्रभु के **धिया**=ध्यान व ज्ञान के द्वारा **हविः**=त्यागपूर्वक अदन की भावना को और **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **शुक्रम्**=जीव को शुद्ध (शुच्) व सक्रिय (शुक्) बनानेवाले वीर्य को, **वसु**=उत्तम निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को तथा **मघम्**=पापशून्य, सुपथ से अर्जित ऐश्वर्य को **आसुरात्**=उस प्राणाशक्ति के देनेवाले प्रभु से **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आजभ्रिरे**=प्राप्त कराए २. मानव जीवन की साधना में सबसे महत्त्वपूर्ण पग प्राणसाधना (प्राणायाम्) व स्वाध्याय हैं। ३. इनसे मनुष्य में (क) त्यागपूर्वक अदन की भावना उत्पन्न होती है। इन्द्रियशक्ति उत्पन्न होती है। (ख) वीर्य स्थिर होता है जो उसके जीवन को शुद्ध व क्रियाशील बनाता है। (ग) उत्तम निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्व उसमें विकसित होते हैं और (घ) उसे सुपथ-अर्जित ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्राणायाम व स्वाध्याय के द्वारा अश्विनीदेवों व सरस्वती की आराधना करें, जिससे हमारा जीवन 'हवि-इन्द्रिय-शुक्र-वसु व मघ' से सुशोभित हो।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वल व मघ का विदारण

यमश्विना सरस्वती हविषेन्द्रमवर्द्धयन्।
स बिभेद वलं मघं नमुचावासुरे सचा॥६८॥

१. **यम्**=जिस **इन्द्रम्**=इन्द्र को **अश्विना**=प्राणापान व **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **हवि**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं **सः**=वह इन्द्र **आसुरे**=उस प्राणशक्ति के लेनेवाले **नमुचौ**=कभी भी अपने धारणात्मक व्रत को न छोड़नेवाले प्रभु में **सचा**=समवेत होकर रहता हुआ, अर्थात् कभी भी उस प्रभु से अपने को अलग न करता हुआ **वलं मघम्**=शक्ति व ऐश्वर्य को **बिभेद**=विदारण करनेवाला होता है, अर्थात् किसी भी शक्ति से भयभीत नहीं होता और किसी के ऐश्वर्य से प्रलुब्ध नहीं होता। अथवा यह बल व मघ के रिकार्ड को तोड़नेवाला बनता है, अर्थात् सर्वाधिक बल व ऐश्वर्य को प्राप्त होनेवाला है। २. स्पष्ट है कि प्राणायाम व स्वाध्याय से 'हवि' की वृत्ति—त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति बढ़ती है। इस वृत्ति से मनुष्य प्रभु के अधिकाधिक समीप होता है, प्रभु का उपासक बनता है। इस उपासना से उसका बल व ऐश्वर्य बढ़ता है।

भावार्थ—हमारी प्राणासाधना व स्वाध्याय अविच्छिन्न रूप से चलें, हममें हवि व यज्ञ की वृत्ति हो, हम प्रभु के उपासक बनें और बल व ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पशवः-अश्विना-सरस्वती

तमिन्द्रं॑ प॒शव॒: सचा॒श्विनो॒भा सर॑स्वती।
दधा॑नाऽअ॒भ्य॑नूषत ह॒विषा॑ य॒ज्ञऽइ॑न्द्रि॒यैः॥६९॥

१. गतमन्त्र के 'यं इन्द्रम्' शब्द का प्रस्तुत मन्त्र में 'तं इन्द्रम्' से उल्लेख करते हैं। **तम् इन्द्रम्** =उस इन्द्र को **पशवः**=काम-क्रोध आदि पशु **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान तथा **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता—ये सब **सचा**=मिलकर **दधानाः**=धारण करते हुए **यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **हविषा** =त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति से तथा **इन्द्रियैः**=(वीर्यैः) इन्द्रियशक्तियों से **अभ्यनूषत**=बढ़ाते हैं (नूषतिर्वृद्ध्यर्थम्) अथवा स्तुत करते हैं (नू स्तवने)। २. 'काम' शत्रु है, परन्तु यही नियन्त्रित हुआ-हुआ पुरुषार्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'क्रोध' शत्रु है परन्तु वही क्रोध विचारपूर्वक होने पर मन्यु होता है और वाञ्छनीय हो जाता है। ये काम व मन्यु जीवन में उन्नति के लिए सहायक होते हैं, इसीलिए मनु ने लिखा है कि **'न चैवेहास्त्यकामता'**=अकामता के लिए इस जीवन में कोई स्थान नहीं है। सब ज्ञान व यज्ञ काम से ही हुआ करते हैं। प्राणायाम इन्द्रियदोषों को दूर करता है। स्वाध्याय बुद्धि का शोधन करता है। ३. इस प्रकार ये पशु, प्राणापान व ज्ञान मनुष्य का धारण करते हुए उसका वर्धन करते हैं, उसके जीवन में हवि होती है, उसकी इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न बनती हैं।

भावार्थ—हवि व इन्द्रिय-शक्तियों से हमारा जीवन स्तुत्य बने।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सविता-वरुणो-भगः

यऽइन्द्रे॑ऽइन्द्रि॒यं द॒धुः स॑वि॒ता वरु॑णो॒ भगः॑।
स सु॒त्रामा॑ ह॒विष्प॑ति॒र्यज॑मानाय सश्चत॥७०॥

१. **ये**=जो **सविता**=निर्माण की देवता, **वरुणः**=द्वेषनिवारण की देवता तथा **भगः**=(भज सेवायाम्) उपासना की वृत्ति **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=वीर्य को, इन्द्रियशक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं तो २. **सः**=वह इन्द्र **सुत्रामा**=(सु+त्रा) बड़ी उत्तमता से अपना त्राण करनेवाला, अर्थात् नीरोग बनता है। यह ३. **हविष्पतिः**=हवि का रक्षक होता है। इसके मन में देकर खाने की वृत्ति होती है और यह इन्द्र ४. **यजमानाय**=इस सृष्टियज्ञ को चलानेवाले के लिए **सश्चत**=(सेवताम्) सेवन करनेवाला बने। ५. सदा निर्माण की क्रिया में लगे रहने से, निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहने से यह स्वयं सविता बनता है और अपने शरीर की रक्षा कर पाता है। एवं, यह सुत्रामा होता है। ६. ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठकर यह 'वरुण' होता है और सबके साथ प्रेम होने से मिलकर खाता है। इसी को यहाँ 'हविष्पति' बनना कहा है। ७. **भगः**=उपासना से यह उस यजमान को, सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—सविता, वरुण व भग की कृपा से हम 'सुत्रामा, हविष्पति व प्रभुसेवी' बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वसु-बलम्-इन्द्रियम्

स॒वि॒ता वरु॑णो॒ दधद्यज॑मानाय दा॒शुषे॑।
आद॑त्त नमु॒चेर्वसु॑ सु॒त्रामा॒ बल॑मिन्द्रि॒यम्॥७१॥

१. **सविता**=निर्माण की देवता तथा **वरुणः**=द्वेषनिवारण की देवता **यजमानाय**=यज्ञशील **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, देनेवाले के लिए **दधत्**=धारण करते हैं, अर्थात् यदि हम निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं और ईर्ष्या-द्वेष की भावना से ऊपर उठ जाते हैं तो हमारा जीवन यज्ञशील बनता है, हममें देने की वृत्ति बनी रहती है और इस प्रकार ये सविता व वरुण हमारा धारण करनेवाले हो जाते हैं। २. यह सविता व वरुण से धारण किया गया **सुत्रामा**=अपना उत्तम त्राण करनेवाला इन्द्र **नमुचेः**=धारणात्मक कर्म का कभी परित्याग न करनेवाले प्रभु से **वसु**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को, **बलम्**=शक्ति को तथा **इन्द्रियम्**=वीर्य को **आदत्त**=ग्रहण करता है।

भावार्थ—निर्माणात्मक कार्यों में लगना व ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठना मनुष्य को यज्ञशील व दाश्वान् (दान देनेवाला) बनाते हैं। अपना त्राण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष 'वसु, बल व इन्द्रिय' को प्रभु से प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यशसा-बलम्

वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं भगेन सविता श्रियम्।
सुत्रामा यशसा बलं दधाना यज्ञमाशत॥७२॥

१. **वरुणः**=द्वेष के निवारण की देवता **क्षत्रं इन्द्रियम्**=रोगरूप क्षतों (प्रहारों) से त्राण करनेवाले बल तथा इन्द्रियशक्तियों को धारण करती है। हम द्वेष से ऊपर उठते हैं तो तेजस्वी व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न बनते हैं। २. **सविता**=निर्माण की देवता **भगेन**=उपासना के साथ **श्रियम्**=श्री को धारण करती है, अर्थात् हम निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं और प्रभु का स्मरण नहीं छोड़ते तो हमारे सब कार्य श्रीसम्पन्न होते हैं। ३. **सुत्रामा**=अपना उत्तम त्राण करनेवाले व्यक्ति **यशसा बलम्**=सदा यश के साथ बल को **दधाना** =धारण करने के हेतु से **यज्ञम् आशत**=यज्ञ को व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा यज्ञों में लगे रहते हैं। यह यज्ञों में लगे रहना ही उनके यश व बल का कारण बनता है।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठें और बल व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न हों। प्रभु-स्मरणपूर्वक निर्माण के कार्यों में लगे रहें और श्रीसम्पन्न बनें। सुत्रामा=अपने को रोगादि से बचानेवाला पुरुष यशस्वी बल के लाभ के लिए जीवन को सदा कर्मों में व्याप्त रखता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गौः-अश्व

अश्विना गोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्यं बलम्।
हविषेन्द्रꣳसरस्वती यजमानमवर्द्धयन्॥७३॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अथवा वेदवाणियों के द्वारा **इन्द्रियम्**=बल को, इन्द्रियों की शक्ति को, **वर्धयन्**=बढ़ाते हैं। २. **अश्वेभिः**=कर्मेन्द्रियों के द्वारा अथवा कर्मों में व्यापन के द्वारा **वीर्यम्**=शरीर में रोगों का प्रतीकार करनेवाली शक्ति को तथा **बलम्**=बल को बढ़ाते हैं। ३. **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता **हविषा**=हवि के द्वारा **यजमानम्**=यज्ञशील, यज्ञ के स्वभाववाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को बढ़ाती है। ज्ञान से मनुष्य के अन्दर अकेले खा लेने की वृत्ति नष्ट होती है और वह हविर्मय जीवनवाला बन जाता है। ४. प्राणापान की साधना ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को निर्दोष बनाकर उनकी शक्ति को

बढ़ाती है। प्राणापान के ठीक कार्य करने पर मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्याप्त किये रखता है। इस प्रकार इस प्राणसाधना से उसकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का बल बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणायाम से हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष बन बढ़ी हुई शक्तिवाली होती हैं और ज्ञान-प्राप्ति से हमारी यज्ञियवृत्ति का विकास होता है, हम हविरूप हो जाते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नासत्या

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्तनी नरा।
सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोऽवत ॥७४॥

१. **ता**=पिछले मन्त्र में बारम्बार उल्लिखित अश्विनीदेव **नासत्या**=(न असत्यौ) असत्य नहीं हैं। इनके उपासक की स्थिति सत्य-ही-सत्य होती है। इनका उपासक असत् को छोड़कर सत् को प्राप्त करता है। २. **सुपेशसा**=ये उपासक को पूर्ण स्वस्थ बनाकर सुन्दररूप प्रदान करते हैं। ३. **हिरण्यवर्तनी**=ये उपासक के मार्ग को ज्योतिर्मय करते हैं (हिरण्यं वर्तनिर्यस्यां)। उपासक की बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर उसे ज्योति प्राप्त कराते हैं। उसका जीवन-मार्ग अन्धकारमय नहीं होता। ४. **नरा**=(नेतारौ) इस प्रकार ये अपने आराधक को उन्नतिपथ पर आगे-और-आगे ले-चलते हैं। ५. इनके लिए **सरस्वती**=ज्ञान की देवता **हविष्मती**=प्रशस्त हविवाली होती है, अर्थात् ज्ञान इनके जीवन को हविर्मय बना देता है। ६. इस प्रकार प्राणसाधना से 'सत्य-सुन्दर-प्रकाशमय-उन्नतिपथ' वाले बनकर तथा ज्ञान से हविर्मय जीवनवाले बनकर हे प्रभो! हम आपसे प्रार्थना करते हैं—हे **इन्द्र**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभो! **कर्मसु**=हमारे कर्म करने पर आप **नः**=हमें **अवत**=सुरक्षित कीजिए। हम कर्म करें और आपकी कृपा के पात्र बनें।

भावार्थ—प्राण हमें सत्य-सुन्दर-प्रकाशमय व उन्नत बनाएँ। ज्ञान हममें त्याग की भावना भरे। कर्मशील बनकर हम प्रभु की कृपा के पात्र बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वृत्रहा-शतक्रतुः

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती।
स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥७५॥

१. **सुकर्मणा**=उत्तम कर्मों के द्वारा, अर्थात् जब हम उत्तमता से कर्मों में व्याप्त रहते हैं तब **ता**=वे अश्विनीदेव **भिषजा**=हमारे चिकित्सक बनते हैं। कर्मशीलता से प्राणापान की शक्ति इस प्रकार बढ़ती है कि हमें रोग सताते ही नहीं, कोई रोग आता भी है तो शीघ्र नष्ट हो जाता है। २. इसी प्रकार **सुकर्मणा**=उत्तम कर्मों के होने पर **सा सरस्वती**=वह ज्ञानाधिदेवता **सुदुघा**=हमारा उत्तमता से पूरण करनेवाली बनती है। जब हम ज्ञान के अनुसार कर्म करते हैं तब हमारी सब बुराइयाँ दूर होकर हमारे अन्दर अच्छाइयाँ बढ़ती चलती हैं। ३. **सः**=वह उत्तम कर्मों से प्राणों व ज्ञान की साधना करनेवाला व्यक्ति **वृत्रहा**=ज्ञान पर आवरणभूत सब वासनाओं को नष्ट करनेवाला होता है। **शत-क्रतुः**=यह सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय बिताता है। ४. संक्षेप में, ये अश्विनीदेव तथा सरस्वती **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के लिए **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं।

भावार्थ—जब हम उत्तमता से कर्मों में लगेंगे तब प्राणापान हमारे वैद्य होंगे। हमें ये नीरोग रखेंगे तथा ज्ञान हममें उत्तमता का पूरण करेगा। हम वासना को नष्ट कर यज्ञशील बनेंगे। हमारी सब इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न होंगी।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सुराम इन्द्र

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना: सरस्वतीन्द्रं कर्मस्वावत ॥७६॥

१. **अश्विना**=हे अश्विनीदेवो! **युवम्**=तुम दोनों तथा **सरस्वति**=ज्ञानाधिदेवते! **नमुचौ** =अपने धारणात्मक कर्म को न छोड़नेवाले **आसुरे**=प्राणशक्ति को देनेवाले प्रभु में **सचा**=समवेत होकर रहनेवाले **सुराममम्**=(सुष्ठु रमते) उत्तमता से रमण व क्रीड़ा करनेवाले, संसार के सारे व्यवहारों को क्रीड़ारूप में ग्रहण करनेवाले, अतएव न खिझनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **विपिपानाः** =विशेषरूप से रक्षित करते हुए **कर्मसु**=कर्मों में **आवत**=प्रीणित करो। यह इन्द्र कर्मों में आनन्द का अनुभव करे। २. इन्द्र वह है जो (क) संसार के सब व्यवहारों को करता हुआ प्रभु में स्थित होता है। यह प्रभु ही उसका वस्तुतः धारण कर रहे हैं और उसे सम्पूर्ण प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। यह कभी खिझता नहीं। ३. इन्द्र वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ४. यह इन्द्र प्राणापान की साधना करता है और सरस्वती की आराधना करता है। 'प्राणायाम व स्वाध्याय' इसके नैत्यिक कर्त्तव्य हैं। ५. यह सदा कर्मों में लगा रहता है। कर्मों में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के साथ रहें। किसी भी कर्म को करते हुए प्रभु को भूल न जाएँ। संसार के सब व्यवहारों को क्रीड़ारूप में लें, क्रियाशील बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

काव्य+दंसना

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥७७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **पितरौ पुत्रम् इव**=जैसे माता-पिता पुत्र को रक्षित करते हैं उसी प्रकार **उभौ अश्विनौ**=ये दोनों अश्विनीदेव **काव्यैः**=तत्त्वज्ञान की प्रतिपादिका वाणियों से तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **अवथुः**=तेरी रक्षा करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना करने पर तेरी बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्मविषयों का दर्शन करनेवाली बनती है और तेरी मानसवृत्ति पवित्र होकर तुझे सदा उत्तम कर्मों में झुकाववाला करती है और २. **यत्**=जब **सुराममम्**=इस (सुष्ठु रम्यम्) अत्यन्त रमणीय, हितकर सोम का तू **व्यपिबः**=पान करता है तब **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक होनेवाले कर्मों से हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवाले जीव! **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्** =उपसेवित करती है। ३. शरीर में सोम की रक्षा का यह लाभ होता है कि (क) मनुष्य यज्ञियवृत्तिवाला बनता है (मघवन्) (ख) उसकी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और यह सदा प्रज्ञापूर्वक पवित्र कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ—१. प्राणापान हमारी इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे माता-पिता पुत्र की। प्राणसाधना करने पर मनुष्य कवियों की दृष्टि प्राप्त करता है, उत्तम कर्मों में व्यापृत होता है। २. इस प्राणसाधना से सोम (वीर्य) का रक्षण होने पर ज्ञानाधिदेवता हमारे जीवन को

प्रज्ञापूर्वक कर्मों से उपसेवित करती है और हम पापशून्य ऐश्वर्यवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अग्निहोत्र

यस्मिन्नश्वासऽऋषभासऽउक्षणो वशा मेषाऽअवसृष्टासऽआहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनय चारुमग्नये ॥७८॥

१. उस **अग्नये**=अग्नि के लिए **हृदा**=हृदय से, अर्थात् श्रद्धा से **चारुम्**=सुन्दर **मतिम्**=स्तोत्र को **जनय**=उत्पन्न कर, अर्थात् अग्निहोत्र करते हुए तू श्रद्धापूर्वक सुन्दर स्तवन करनेवाला बन। २. उस अग्नि के लिए **यस्मिन्**=जिसमें **अश्वासः**=(तरवी अश्वगन्धायां तुरगश्चिद्वाजिनोः) अश्वगान्धा नामक ओषधि **ऋषभासः**=(शृंगी तु, ऋषभो वृषः) काकड़ासिंगी नामक ओषधि **उक्षणः**=(One of the eight chief medicines आप्टे) सर्वोत्तम आठ ओषधियों में से एक, उक्षा नामक ओषधि **वशा**=(offering, कामिताहुतिः—द०) एक अत्यन्त वाञ्छनीय औषध **मेषाः**=(Small cardmons आप्टे) छोटी इलायची—ये **अवसृष्टासः**=(to form, create) सम्यक्तया तैयार की जाती हैं और **आहुताः** =आहुत की जाती हैं। ये सब ओषधियाँ रोगनिवारक व रोगकृमियों की संहारक हैं। इनके विशिष्ट गुणों के कारण इनकी सामग्री के साथ आहुतियाँ दी जाती हैं। २. उस **कीलालपे** =(कीलालं =रुधिरं) रुधिर की रक्षा करनेवाली अग्नि के लिए। यह अग्नि उत्तम ओषधियों के सूक्ष्म कणों से रुधिर को एकदम शुद्ध कर देती है। ३. **सोमपृष्ठाय** =सोम की आधारभूत अग्नि के लिए, अर्थात् शरीर में रुधिर आदि के शोधन के द्वारा यह अग्नि सोम (वीर्य) को सुरक्षित करती है। अथवा जिसमें सोमलता की आहुतियाँ दी जाती हैं (सोमाहुतयो यस्य पृष्ठे हूयन्ते) उस **वेधसे**=(विदधाति शुभं करोति, शुभमतिः) बुद्धि को शुद्ध बनानेवाले अग्नि के लिए स्तोत्रों को कर।

भावार्थ—अग्निहोत्र से १. रोग दूर होते हैं। २. रुधिर शुद्ध होता है। ३. सोम की रक्षा होती है। ४. बुद्धि शुद्ध होती है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रयि-वीर्य-यश

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।
वाजसनिꣳरयिमस्मे सुवीरꣳ प्रशस्तं धेहि यशसꣳ बृहन्तम् ॥७९॥

१. हे **अग्ने**=अग्निकुण्ड में आहुत अग्ने! **ते आस्ये**=तेरे मुख में **हविः अहावि**=मुझ से घृत की आहुति दी जाती है। **स्रुचि इव घृतम्**=जैसे चम्मच में घी तथा **चम्वि इव सोमः**=यज्ञपात्र में जिस प्रकार सोम होता है। हवन की तैयारी के साथ ही 'हवि, घृत व सोम' आदि को एकत्र करता है और अग्नि से कहता है कि 'चम्मच में घृत है, यज्ञपात्र में सोम है और तेरे मुख में हवि है'। चम्मच में घृत सदा रहता है, चमू नामक यज्ञपात्र में सोम, इसी प्रकार तेरे मुख में मुझसे नित्य हवि डाली जाती है। मेरी यह होम की प्रक्रिया सतत रहती है, विच्छिन्न नहीं होती। २. हे अग्ने! इस प्रकार आहुत हुआ-हुआ तू (क) **वाजसनिम्**=अन्नादि आवश्यक सामग्री को प्राप्त करानेवाले **रयिम्**=धन को, (ख) **प्रशस्तं सुवीरम्**=प्रशंसा के योग्य उत्तम शक्ति को, जिस शक्ति से मेरी प्रशंसा-ही-प्रशंसा होती है, उस शक्ति को तथा (ग) **बृहन्तं यशसम्**=सदा बढ़ते हुए यश को **अस्मे**=हमारे लिए

धेहि=धारण कर। अग्निहोत्र से वर्षा होकर अन्नादि की समृद्धि से धन बढ़ता है, रोगकृमियों के संहार से नीरोगता द्वारा बल बढ़ता है और त्यागवृत्ति की भावना बढ़ने से जीवन यशस्वी बनता है।

भावार्थ—सतत होम के तीन लाभ हैं—१. समय पर वर्षा होने से अन्नादि के ठीक उत्पादन से धन की वृद्धि २. वायुशुद्धि व कृमिसंहार द्वारा नीरोगता से शक्ति की वृद्धि ३. तथा त्याग-भावना के वर्धन से यश की वृद्धि।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।
वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम्॥८०॥

१. इस विदर्भि ऋषि के प्रकरण को समाप्त करते हुए कहते हैं कि घरों में यज्ञादि के ठीक होने पर तथा वैयक्तिक रूप से 'प्राणसाधना-स्वाध्याय व जितेन्द्रियता के अभ्यास' के चलने पर **अश्विना**=ये प्राणापान **तेजसा चक्षुः**=तेजस्विता के साथ चक्षु-इन्द्रिय की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। प्राणापान की साधना से तेजस्विता की वृद्धि होती है और चक्षु आदि इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनती हैं। प्राणशक्ति की कमी होने पर आँख निर्बल हो जाती है और शरीर में अपान के कार्य के ठीक न होने पर आँख में मलिनता आ जाती है। एवं, आँख के ठीक रहने के लिए प्राणापान का कार्य ठीक रहना चाहिए। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **प्राणेन**=प्राणशक्ति के साथ अथवा 'प्र+अन्' उत्कृष्ट जीवन के साथ **वीर्यम्**=वीर्य को **इन्द्राय** =जितेन्द्रिय पुरुष के लिए धारण करती है। 'स्वाध्याय' मनुष्य के जीवन को उत्कृष्ट तो बनाता ही है, उसे वीर्यसंयम के योग्य भी बनाता है चूँकि उसका वीर्य उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर शरीर में उत्तमता से उपयुक्त हो जाता है। ३. इसी स्वाध्यायशील तथा प्राणसाधना करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **वाचा**=वेदवाणी के साथ तथा **बलेन**=उस वेदज्ञान को क्रियारूप में लाने के लिए शक्ति के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति व धन को धारण करता है। ४. यहाँ 'इन्द्र=इन्द्राय', 'इन्द्र' इन्द्र के लिए धारण करता है। इस वाक्य में कर्तृपद परमात्म-वाचक और सम्प्रदानपद जीव के लिए है। एवं, जीव व ब्रह्म का द्वैत स्पष्ट है। यह प्रभु अपने सखा जीव के लिए 'वेदवाणी, शक्ति व धन' सभी वस्तुएँ प्राप्त कराता है, जिससे वह जीव उन्नत होकर उस-जैसा बनने के लिए यत्नशील हो। यह जीव अपने में अधिकाधिक दिव्य गुणों का ग्रन्थन करनेवाला हो और अपने विदर्भि नाम को चरितार्थ करे।

भावार्थ—(क) प्राणापान की साधना हमें 'तेजस्विता व चक्षु' प्रदान करेगी, (ख) सरस्वती की आराधना से हमारा जीवन उत्कृष्ट वीर्यवान् होगा तथा (ग) प्रभु का उपासन हमें 'वेदवाणी, बल व जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन' प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

गोमत्+अश्वावत्+नृपाय्य

गोमदू षु णासत्याश्वावद्यातमश्विना। वर्त्ती रुद्रा नृपाय्यम्॥८१॥

१. पिछले मन्त्रों की भावना को क्रियारूप में लाने के लिए उत्तम राष्ट्र के आयोजन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अश्विना**=सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाले राजा व सेनापति (सभासेनेशौ—द०) जोकि सदा जागरित होकर राजकार्यों में लगे हुए हैं, **नासत्या**=(न

असत्यौ) जो कभी असत्य व्यवहार नहीं करते तथा **रुद्रा**=(शत्रूणां रोदयितारौ) शत्रुओं के रुलानेहारे हैं। वे **वर्त्ती**=वेदप्रदिपादित मार्ग से उस राष्ट्र को **सुयातम्**=अच्छी प्रकार प्राप्त करें जो (क) **गोमत्**=उत्तम गौवोंवाला है, जिसमें गोसंवर्धन के द्वारा उत्तम दूध की व्यवस्था से प्रजाओं की शारीरिक नीरोगता, मानस पवित्रता तथा मस्तिष्क की तीव्रता की व्यवस्था हुई है। (ख) **ऊ**=और **अश्वावत्**=जो उत्तम अश्वोंवाला है। राष्ट्र में उत्तम अश्वों के द्वारा जहाँ इधर-उधर जाने की व्यवस्था ठीक रहती है वहाँ ये उचित व्यायाम के साधन बनकर 'क्षात्रशक्ति' की वृद्धि का कारण बनते हैं। (ग) **नृपाय्यम्**=आप उस राज्य को प्राप्त कराओ जिसमें मनुष्यों का उत्तम रक्षण होता है। राष्ट्र में नियम-व्यवस्था इतनी सुन्दर होनी चाहिए कि उसमें चोरी-डाके व हिंसा आदि उत्पातों का किसी प्रकार का भय न हो। लोग अपने को सुरक्षित अनुभव करें।

भावार्थ—राष्ट्र गौवोंवाला हो, अश्वोंवाला हो, उसमें रक्षा का प्रबन्ध उत्तम हो, किसी प्रकार का भय न हो। राष्ट्र के अध्यक्ष कार्यव्यापृत, असत्य व्यवहार न करनेवाले व शत्रुओं के रोदक बलवाले हों। ऐसे राष्ट्र में ही सम्भव है कि 'गृत्समद' बनें (गृणाति माद्यति) प्रभु का स्तवन करें और प्रसन्न रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अनाधृष्ट

न यत्परो नान्तरऽआदधर्षद् वृषण्वसू। दुःशꣳसो मर्त्यो रिपुः॥८२॥

१. राष्ट्र वही ठीक है **यत्**=जिसे **न परः**=न तो पराया, अर्थात् बाहर का शत्रु और **न**=न ही **आन्तरः**=अन्दर का शत्रु **आदधर्षत्**=धर्षण करनेवाला बने या अभिभूत करके अपने वश में कर लें। राष्ट्र पर जहाँ बाह्य शत्रुओं का आक्रमण न होना चाहिए, वहाँ राष्ट्र को आन्तर शत्रुओं से सुरक्षित रखना भी आवश्यक है। २. इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाले 'राष्ट्रपति व सेनापति' ही **वृषण्वसू**=राष्ट्र में उत्तम सुखों की वर्षा करनेवाले तथा प्रजा के निवास को उत्तम बनानेवाले होते हैं (वर्षतः वासयतः)। ३. इन 'वृषण्वसू' ने शत्रुओं का नाश करना है, शत्रुओं से राष्ट्र को बचाना है। बाह्य शत्रुओं का स्वरूप स्पष्ट ही है। आन्तर शत्रुओं का संकेत करते हुए कहते हैं कि **दुःशंसः**=असद्वृत्त का शंसन करनेवाला और **मर्त्यः**=विषयों के पीछे मरनेवाला, उनके लिए अत्यन्त लालायित होनेवाला मनुष्य **रिपुः**=शत्रु है। एक व्यक्ति जुए, शराब या व्यभिचारादि को बड़े सुन्दर रूप में चित्रित करता है, तो राष्ट्रपति उसे रोके और उस व्यक्ति को दण्डित करे।

भावार्थ—राष्ट्रपति व सेनापति का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र की आन्तर व बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें और राष्ट्र को अनाधृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

धन-श्री-ध्यान

ता नऽआ वोढमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम्। धिष्ण्या वरिवोविदम्॥८३॥

१. **ता अश्विना**=उल्लिखित प्रकार से राष्ट्र का निर्माण व रक्षण करनेवाले सभा व सेना के ईश राजाओ (शासको)! **नः**=हम सबके लिए **रयिम्**=धन व ऐश्वर्य को **आवोढम्**=सर्वत्र प्राप्त कराओ। यहाँ 'आ' शब्द प्रजा में सर्वत्र धन के उचित लाभ का उल्लेख कर रहा है। धन किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाए, इसकी

अपेक्षा यही ठीक है कि वह धन सारे राष्ट्र-शरीर में सर्वत्र समविभक्त होकर रहे। राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति निर्धन न हो। सभी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कर सकें। २. 'यह धन कैसा हो?' इस प्रश्न का विवेचन करते हुए कहते हैं कि **पिशङ्गसन्दृशम्**=(पिशङ्गं पीतं सम्यक् दृश्यते, पीतवर्णं सुवर्णम् इत्यर्थः—म०) वह सुवर्णरूप हो। धन सुवर्ण के रूप में हो। अथवा जो धन हमारे जीवन को सुशोभित करनेवाला हो (पिश to adorn) तथा जिससे हमारा जीवन उत्तम दिखे। ३. यह धन **धिष्ण्या**=बुद्धि के साथ **वरिवोविदम्**=(येन परिचरणं विन्दति तम्—द०) उपासना को प्राप्त करानेवाला हो, अर्थात् यह धन हमारे अन्दर ज्ञान की रुचि को कम करनेवाला न हो जाए। इस धन का विनियोग हम ज्ञानवृद्धि में ही करें तथा इस धन से हमारे अन्दर उपासना की वृत्ति बढ़े, उसमें कमी न आये। एवं, धन 'ज्ञान व उपासना' का साधन बने। यह धन स्वयं साध्य बनकर ज्ञान व उपासना को समाप्त करनेवाला न हो जाए। धन को प्राप्त करके हम 'गृत्समद' बने रहें—उपासना में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—राजा इस बात का ध्यान करे कि प्रजा में कोई भी निर्धन न हो। साथ ही धन को ही साध्य बनाकर कोई ज्ञान व उपासना को विलुप्त भी न कर दे। ऐसा व्यक्ति राष्ट्र के लिए हानिकर होता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सरस्वती

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥८४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार शासन किये गये सुव्यवस्थित राष्ट्र में **नः**=हमारे लिए **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **पावका**=पवित्र करनेवाली हो। हम सब ज्ञान की रुचिवाले हों। वेदवाणी को पढ़ें और यह वेदवाणी हमारे जीवनों को पवित्र कर दे। वस्तुतः ज्ञान के समान कोई पवित्र करनेवाली वस्तु नहीं है। २. यह ज्ञान **वाजेभिः**=शक्तियों के दृष्टिकोण से **वाजिनीवती**=प्रशस्त अन्नोंवाला हो। इस ज्ञान के द्वारा उत्तम अन्नों का उत्पादन करके और उनका ठीक प्रयोग करके हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को प्राप्त करनेवाले हों। इस ज्ञान से हमारे भोजन का मापक पौष्टिकता हो जाती है न कि स्वाद! ३. **धियावसुः**=(धिया कर्मणा वसु धनं यस्याः सा—म०) ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा धन को प्राप्त करानेवाली यह सरस्वती **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् सरस्वती की कृपा से (क) हम समझदारी से कर्मों को करते हुए (ख) धनों को कमाएँ और (ग) यज्ञादि उत्तम कर्मों में उन धनों का विनियोग करें।

भावार्थ—सरस्वती, अर्थात् ज्ञान हमारे जीवनों को पवित्र करता है। हमें पौष्टिक अन्नों को प्राप्त कराता है। बुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए हम धनों को प्राप्त करते हैं, यज्ञादि उत्तम कर्मों में उसका विनियोग करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूनृता-सुमती

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥८५॥

१. यह वेदवाणी **सूनृतानाम्**=(सु+ऊन्+ऋत) दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा सत्य वाणियों की **चोदयित्री**=प्रेरणा देनवाली है, अर्थात् वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला

व्यक्ति ऐसी ही वाणी बोलता है जो सत्य होने के साथ औरों के दुःख को कम करनेवाली होती है तथा बड़ी मधुरता से बोली जाती है। संक्षेप में इसके बोलने का प्रकार 'सत्' होता है, सद्भाव से ही वह वचन बोला जाता है और वचन तो 'सत्' होता ही है। २. यह वेदवाणी **सुमतीनाम्**=उत्कृष्ट मतियों को **चेतन्ती**=चेतानेवाली है। इन ज्ञानवाणियों का अध्ययन करनेवाला कभी अशुभ तो सोचता ही नहीं। अध्ययनशून्य व्यक्ति दुर्मतियों का ही उत्पत्ति स्थान बन जाता है। 'नाश कैसे करना' इसी ओर उसका मस्तिष्क चलता है। स्वाध्याय सुमति का जनक होता है। ३. इस प्रकार यह **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता हमारे जीवनों में सुमतियों को चेताती हुई **यज्ञं दधे**=यज्ञ को धारण करती है, अर्थात् इस सरस्वती की आराधना की कृपा से हमारे सब कर्म यज्ञात्मक होते हैं। हमारे कर्मों में स्वार्थांश को प्रधानता नहीं मिलती।

भावार्थ—सरस्वती (क) हमारी वाणियों को सूनृत बनाती है, (ख) हमारे मनों व मस्तिष्कों में सुमति को जन्म देती है, (ग) हमारे जीवन को यज्ञरूप कर देती है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सरस्वान् (महो अर्णः)=महान् समुद्र

महोऽअर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति॥८६॥

१. यह **सरस्वती**=वेदवाणी **महो अर्णः**=एक महान् जल है। जिस प्रकार समुद्र का अन्त नहीं दिखता, इसी प्रकार यह वेदवाणी भी एक महान् ज्ञान का समुद्र है। इसका भी अन्त नहीं है—**'अनन्ता वै वेदाः'**, यह उक्ति ठीक ही है। वेदज्ञान का कोई अन्त नहीं, इसीलिए इसको जितना ही मथेंगे उतना ही अधिक ज्ञान का नवनीत प्राप्त करेंगे। ३. यह वेदवाणी **केतुना**=उत्तम ज्ञान से **प्रचेतयति**=हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बनाती है। हमारा हृदयान्तरिक्ष इससे दीप्त हो उठता है। हमारे मनों में इस प्रकाश से उत्कृष्ट संकल्प उठते हैं। ३. यह वेदवाणी **विश्वा धियः**=सब बुद्धियों को **विराजति**=(विराजयति) दीप्त करती है। यह हमें सब ज्ञानों को देती है। यह सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ है। मनुष्य के लिए आवश्यक सब ज्ञानों का यह प्रतिपादन करती है। सब उपादेय ज्ञान का वह कोश है। इसको प्राप्त करने की प्रबल कामना होनी चाहिए। यही सबसे उत्तम कामना है। इस कामना को करनेवाला ही इस मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है। वस्तुतः वेदाध्येता अमधुर इच्छा कर ही नहीं सकता।

भावार्थ—वेद ज्ञान का महान् समुद्र है। यह प्रकाश से हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बना देता है। इसमें सब सत्यविद्याओं का प्रकाश हुआ है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुताऽइमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः॥८७॥

१. वेदज्ञान की प्राप्ति की कामनावाला गतमन्त्र का 'मधुच्छन्दा' प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति की कामना करता हुआ कहता है कि हे **चित्रभानो!**=चेतानेवाले (चित्+र), प्रकाशवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयाहि**=आप मुझे प्राप्त होओ। मेरा जीवन इतना उत्तम हो कि मैं आपकी प्राप्ति का अधिकारी बनूँ। २. **इमे सुताः**=मुझमें उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **त्वायवः**=आपकी ही कामना करनेवाले हैं। इनका विषय-भोग में व्यर्थ का

अपव्यय नहीं किया जा रहा। ३. ये सोमकण **अण्वीभिः**=सूक्ष्म बुद्धियों के दृष्टिकोण से तथा **तना**=शक्तियों के विस्तार के दृष्टिकोण से **पूतासः**=पवित्र किये गये हैं, अर्थात् इन सोमकणों को मैंने वासना से अपवित्र नहीं होने दिया, चूँकि इन्हीं की रक्षा से मेरी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और बुद्धि सूक्ष्म बनती है और इन्हीं की रक्षा से मेरी सब शक्तियों का विस्तार होता है। ४. एवं, आपको वही प्राप्त करता है जो इन उत्पन्न सोमकणों की रक्षा करता है। इनकी ऊर्ध्वगति के द्वारा अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इनके सारे शरीर में व्यापन के द्वारा अपनी शक्तियों का विस्तार करता है।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छावाला वह है जो प्रभु को प्राप्त करना चाहता है। इसी उद्देश्य से यह सोमकणों की रक्षा करता है, अपनी बुद्धि को तीव्र बनाता है, शक्तियों का विस्तार करता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्राप्ति के पाँच उपाय

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः॥८८॥

१. प्रभु अपनी कामना करनेवाले जीवात्मा से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **धिया** =बुद्धि से **इषितः**=प्रेरित हुआ-हुआ **विप्रजूतः**=मेधावियों से अनुगत हुआ **आयाहि**=मेरे समीप आ, अर्थात् (क) यदि हम प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि सदा बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले बनें। बुद्धि से कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करें। इस बात को हम न भूलें कि मनु का यह वाक्य बिल्कुल ठीक है कि **'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'**=तर्क से अनुसन्धान करनेवाला ही धर्म को जानता है। (ख) प्रभु-प्राप्ति का दूसरा साधन यह है कि हम सदा मेधावी पुरुषों से सेवित हों। हमें मेधावियों का ही सङ्ग प्राप्त हो। २. इसके अतिरिक्त प्रभु कहते हैं कि तू **सुतावतः**=यज्ञों में सोमाभिषव करनेवाले, अर्थात् बड़े-बड़े सोमयज्ञों को करनेवाले **वाघतः**=मेधावी ऋत्विजों के **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों के **उप**=समीप रहनेवाला बन, अर्थात् यज्ञशील मेधावियों से किये जानेवाले स्तोत्रों को तू भी करनेवाला बन। तू भी यज्ञशील हो और प्रभु-स्तवन करनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि १. हम बुद्धिपूर्वक कर्म करें। २. सदा मेधावियों व ज्ञानियों का सङ्ग करें। उन्हीं से कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करें। ३. यज्ञों के करनेवाले बनें। ४. मेधावी हों। ५. प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उपाय-त्रयी

इन्द्रा याहि तूतुजानऽउप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः॥८९॥

१. गतमन्त्र के ही विषय को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि **इन्द्र**=हे आलस्यादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जीव! तू **आयाहि**=हमारे समीप आ। २. क्या करता हुआ? **तूतुजानः**=(त्वरमाणः) कार्यों को शीघ्रता से करता हुआ। जीव स्वकर्म द्वारा ही प्रभु का अर्चन करता है। ३. **हरिवः**=हे प्रशस्त इन्द्रियरूप अश्वोंवाले जीव! तू **ब्रह्माणि उप**=सदा स्तोत्रों के समीप रहनेवाला हो, अर्थात् तू सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। यह प्रभु-स्तवन ही तेरी इन्द्रियों को विषयासक्त होने से बचाकर पवित्र रक्खेगा। ४. तू **सुते**=शरीर में सोम के उत्पादन के निमित्त **नः**=हमारे **चनः**=अन्न को **दधिष्व**=धारण कर।

प्रभु ने जीव के लिए जिन ओषधि-वनस्पतियों का निर्माण किया है, उनका बुद्धिपूर्वक प्रयोग करते हुए ही हम उस सोम को शरीर में उत्पन्न करनेवाले बनते हैं जो सोम सुरक्षित होकर हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करेगा और हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर अन्त में प्रभु का दर्शन कराएगा। इस सोम (वीर्य) की रक्षा से ही हम उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि १. हम शीघ्रता से कार्यों में व्यापन-वाले हों। २. सदा स्तवन करते हुए प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले बनें। ३. सोम के उत्पादन के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम्यं-मधु-सेवन

अश्विना पिबतां मधु सरस्वत्या सजोषसा।
इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्तꣳसोम्यं मधु॥९०॥

१. **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **सजोषसा**=समान प्रीतिवाले **अश्विना**=अश्वीदेव अर्थात् प्राणापान **मधु**=(मधुरस्वादं सोमम्—म०) मधुर स्वादवाले सोम का **पिबताम्**=पान करें। सोम (वीर्य) सब ओषधियों का सारभूत है। रुधिरादि क्रम से उत्पन्न यह सोम सचमुच 'मधु' है। इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्याय की वृत्तिवाले हों और प्राणापान के अभ्यासी हों। स्वाध्याय से ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और यह सोम उसका ईंधन बनेगा। प्राणायाम से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है और यह हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला बनता है। २. ऐसा होने पर यह जीव **इन्द्रः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करता है। ३. **सुत्रामा**=यह बहुत उत्तमता से रोगों से अपना त्राण करनेवाला बनता है। ४. **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं का यह विनाश करता है। ५. इसलिए जीव को चाहिए कि वह **सोम्यं मधु**=सोममय मधु का—ओषधियों के सारभूत वीर्य का, **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् सोम की रक्षा करे। इसी रक्षा पर शरीर का स्वास्थ्य, मन का नैर्मल्य तथा मस्तिष्क की तीव्रता निर्भर करती है। एवं, सारी उन्नतियों का मूल यह सोमरक्षण ही है। इसी से अन्ततः हमें प्रभु को प्राप्त करना है।

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्ति के लिए चलनेवाला स्वाध्याय व प्राणापान की साधना के लिए होनेवाला प्राणायाम हमें सोम की रक्षा के लिए समर्थ बनाता है।

इस प्रकार यह बीसवाँ अध्याय 'मधुच्छन्दा' के मन्त्रों पर समाप्त होता है। सबसे मधुर इच्छा यही है कि मैं स्वाध्याय व प्राणायाम के द्वारा सोम का पान करनेवाला बनूँ। इस 'सोमपान' पर ही 'स्वास्थ्य नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' निर्भर है। यही हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है और सुखी जीवनवाला करता है। इसी सुखी जीवनवाले 'शुनःशेप' के मन्त्रों से अग्रिम अध्याय का प्रारम्भ होता है।

इति विंशोऽध्यायः॥